संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

श्री सिद्धगुरु प्रकाशन सवाई-282002 (आगरा) उ.प्र.

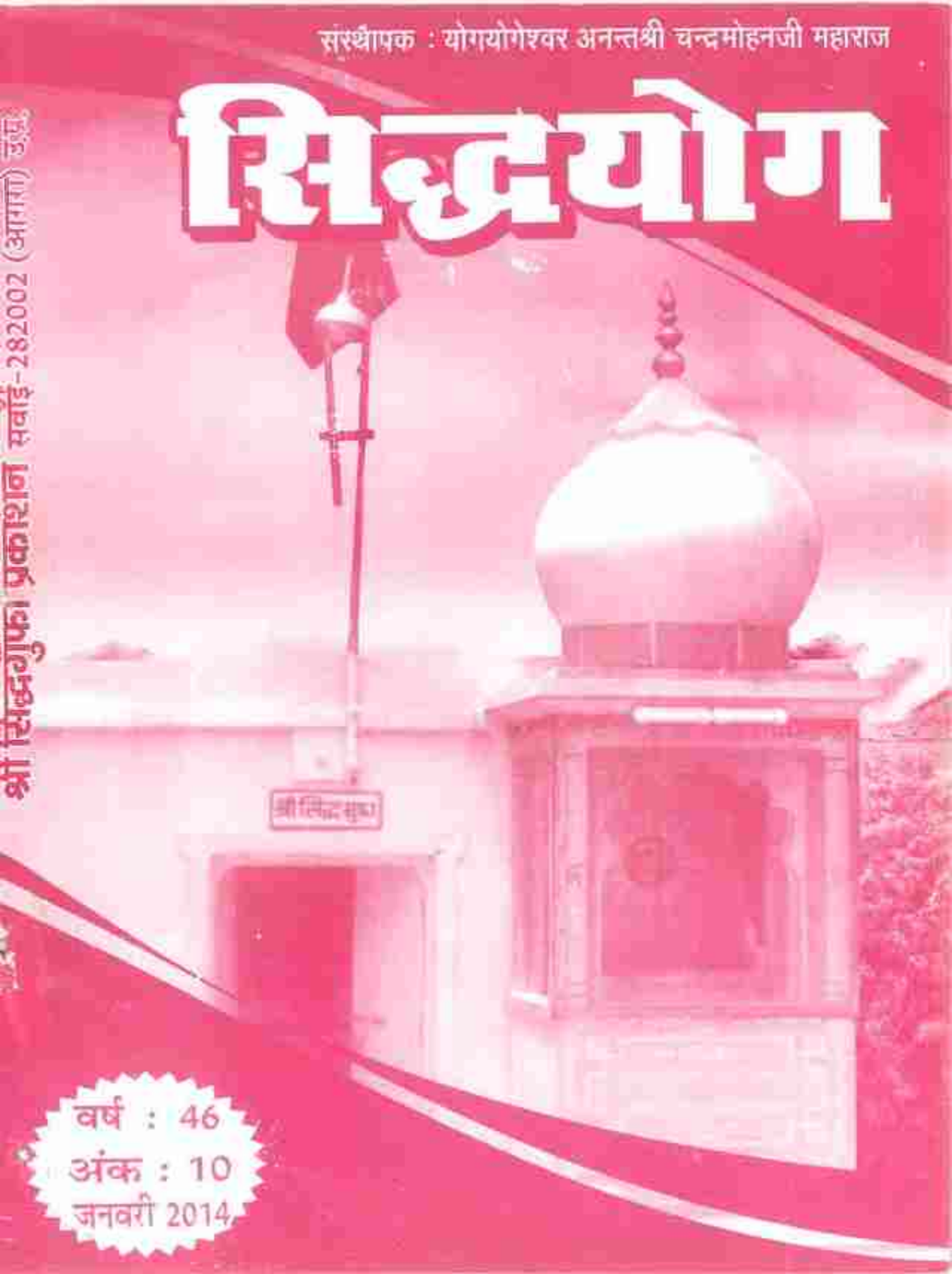

वर्ष : 46
अंक : 10
जनवरी 2014

अमृत कण

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्।।

सुख-दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं ही होता है, ऐसा समझकर कल्याणकारी मार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए, फिर भयभीत होने की कोई बात नहीं।

• • •

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः।।

परीक्षक – विवेकीजन (सारासारविचारद्वारा) ठीक-ठीक परीक्षा करके हितकर मार्ग का सेवन करते हैं, परंतु रजोगुण और तमोगुण से आवृत्त बुद्धि वाले लौकिक मनुष्य (हिताहित का विचार न करे तत्काल) प्रिय (मालूम होने वाले आचार आदि) का सेवन करते हैं (इसलिए दुःखी होते हैं)।

• • •

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।।

सम्पूर्ण प्राणियों की सभी चेष्टाएँ सुख- प्राप्त करने के लिए ही होती हैं और वह सुख बिना धर्माचरण के प्राप्त हो नहीं सकता, अतः धर्म में परायण रहना चाहिए।

• • •

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख (मनुष्य)! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

• • •

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली "सिद्धयोग" नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 46 जनवरी - 2014 अंक : 10

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधन्ते शनैरिह।।
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
क्लियन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः।।

(श्रीमद्भागवत् 3/7)

निष्कामभावे से धर्मों का आचरण करने पर भगवत् कृपा से प्राप्त हुए भक्तियोग के द्वारा यह देहाभिमानी जीव में ही देह के मिथ्याधर्मों की प्रतीति धीरे–धीरे निवृत्त हो जाती है। जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयों से हटकर साक्षी परमात्मा श्री हरि में निश्चलभाव से स्थित हो जाती हैं, उस समय गहरी निद्रा में सोये हुए मनुष्य के समान जीव के राग द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज 3
2. सम्पादकीय 10
3. महर्षि उद्दालक एवं पुत्र श्वेतकेतु – डॉ. विजय सिंह 12
4. गृहस्थ योग से भगवत्प्राप्ति – डॉ. जे.पी. शर्मा 15
5. मानवता के लिए सर्व रोगघ्न औषधि : योग – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी 21
6. कर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? 23
7. गुरु चरणों में ध्यान लगा – विजय शर्मा 24
8. आध्यात्मिक प्रगति के तीन मार्ग – प्रो. ऋषिराम शर्मा 25
9. योग–आसन मत्स्येन्द्रासन 36
10. कुंडलिनी शक्ति जागृत करने के सरल उपाय – डॉ. चाँद प्रकाश मेहरा 37

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगदर्शन के विभूतिपाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलिदेव ने दो प्रकार के विशेष अधिकारियों का संकेत किया है। प्रथम अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते हैं जिनको जन्म से ही ध्यान योग की प्रतीति हो जाया करती है। ये योगी इस प्रकार के होते हैं कि इनमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते हैं। इन्हें केवल निमित्त प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है। ऐसे योगियों को भगवान पतंजलिदेव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है।

सूत्र इस प्रकार है :– **भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।** इसका अर्थ है कि विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यास देव जी कहते हैं–

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमतिवाह्यन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीनाः कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देव विदेह कहलाते हैं। यद्यपि ये लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी "स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः", स्वसंस्कार की सहायता से चित्त के द्वारा वे अपने आपको केवलीभाव में स्थिति समझते हैं। फिर भी "जातीयकंस्वसंस्कार विपाकं अतिवाह्यन्ति" इस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपभोग करते हैं।

इसलिए इस प्रकार के जो देव लीन हैं उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है और जिन योगियों का चित्त प्रकृति में लीन होने के साधिकार है वे अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य स्थिति में अनुभव करते हैं। "यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चितम्।" जब तक उनका चित्त अधिकार वश होने के कारण लौट नहीं आता तभी तक वह मोक्षसुख रहता है। क्योंकि प्राकृत पदार्थों का अधिकार उसके चित्त से निवृत्त नहीं हुआ है। प्रायः यही भाव सभी भाष्यकारों के हैं। ऐसे योगियों का पुनः पुनरावर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक वे अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। फिर भी उनको हानि कुछ नहीं। क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। जन्म लेते ही उनका

पूर्व–जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमशः आरम्भ हो जाया करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने समत्वयोग का उपदेश दिया है और उसे अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु फिर भी अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्रीकृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया।

हे श्री कृष्ण! जो श्रद्धा से युक्त हैं फिर भी जिनका मन योग से विचलित हो गया है वे लोग योग–संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं। कहीं उभय तो भ्रष्ट होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते? इसलिए हे कृष्ण! तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया:–

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।

हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह पहले पुण्यवान् लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रहकर के पुनः मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों धनवानों के यहाँ जन्म लेता है या योगियों के घर ही उसका जन्म हो जाया करता है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है और फिर वहाँ जन्म लेकर के उस साधक को पौर्व–देहिक बुद्धि संयोग पुनः प्राप्त हो जाया करता है। उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुनः पुनः योग संसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। उस योगी का वह प्रयत्न भी उत्कृष्टोत्कृष्ट ही है। क्योंकि–योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से कहीं बहुत आगे निकल जाता है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाला योगी संशुद्ध–किल्विष हो करके प्रयत्न करते हुए अनेक–अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से परमगति को पा ही जाता है। यह बात भव–प्रत्यय वाले योगियों की हुई।

द्वितीय श्रेणी के वे योगी हैं जिनको उपाय प्रत्यय से योगी की प्रवृत्ति हुआ करती है। उनके लिए भगवान पतंजलिदेव ने हृदय में उत्पन्न होने वाले कुछ आवश्यक साधनों का संकेत किया है, वे इस प्रकार हैं:–

श्रद्धा–वीर्य–स्मृति–समाधि–प्रज्ञापूर्वक मितरेषाम्।।

अर्थात्–इतरेषाम् उपाय प्रत्ययशीलानां श्रद्धादयः साधनभूताः भवन्ति। उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धादिक ही प्रमुख साधन बतलाये गये हैं। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव का भाष्य इस प्रकार है–

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्यहि श्रद्धाधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् अभ्यास करने वाले योगियों को उपाय प्रत्यय के द्वारा ही अपने अभ्यास की चरमस्थिति प्राप्त होती है। ऐसे अभ्यासियों के लिए सबसे पहला साधन श्रद्धा है। श्रद्धा के विषय में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं – **'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः'** अर्थात् चित्त की अवस्था का नाम ही श्रद्धा है। **'सा हि कल्याणि जननीव योगिनं पाति'** श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है और ज्योंही योगी के हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाती है त्यों ही **'तस्य विवेकाथिनिः, श्रद्धाधानस्य वीर्य्यमुपजायते'** विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाले उस श्रद्धावान् योगी को वीर्य पैदा हो जाता है। वीर्य ही योगी का बल है और वीर्य पैदा हो जाने के बाद स्मृति उत्तिष्ठित हो जाती है और स्मृति उत्तिष्ठित हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाहित हो जाता है।

'समाहितचित्तस्य च प्रज्ञाविवेकः उपावर्तते येन यथावद्वस्तु जानाति।'' समाहितचित्त योगी को अपने आप ही प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होने पर योगी वस्तुतः यथार्थ को जानता रहता है। यह बात योगियों के उपाय प्रत्यय की है। उपाय प्रत्यय भी हर व्यक्ति को समानरूप से फलीभूत नहीं हुआ करता। उनमें भी मृदु मध्यादि उपाय वाले योगियों में ''तीव्र संवेगानामासन्न–समाधिलाभः फलं च भवति।'' मृदु, मध्य एवं अधि उपाय वाले योगी जब अपनी प्रगाढ़ लगन के साथ अभ्यास में लगते हैं उनमें से भी जो अधिमात्र उपाय वाले एवं तीव्र संवेग वाले होते हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार भगवान पतंजलिदेव ने समाधि प्राप्ति के उपायों का वर्णन किया है। इसके बाद वहीं पर तत्काल किसी ने प्रश्न कर दिया–

किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्यलाभे भवत्यथोऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

अर्थात् क्या इससे भी जल्दी किसी प्रकार समाधि हो सकती है और उसे प्राप्त करने का क्या और कोई सरलतम उपाय है?

प्रत्युत्तर रूप में भगवान पतंजलिदेव जी लिखते हैं–

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

प्रणिधानादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियां इस प्रकार हैं:–

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः

समाधिलाभः फलं च भवति।

ईश्वर के ईक्षण मात्र से भी मनुष्य को जल्दी से जल्दी समाधिलाभ हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से किसी प्रकार से समाधि लाभ हो जाता है यह बताने से पहले मैं ईश्वर का लक्षण एवं तद्बोधक नाम प्रणव का यहाँ वर्णन कर देना बहुत ही आवश्यक समझता हूँ। ताकि आगे प्रणिधान का स्वरूप भी भली प्रकार समझ में आ जाय।

अभी तक योगदर्शन में भगवान् पतंजलिदेव ने श्रद्धा, वीर्य, समाधि आदि–आदि अन्यान्य उपायों को समाधि का उपाय बतलाया। किन्तु जब जिज्ञासु ने पूछा–

क्या इससे भी सरलतम समाधि लाभ का उपाय है? तब श्री पतंजलि देव ने – "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" कह करके ईश्वर प्रणिधान को ही समाधि प्राप्ति का सरलतम एवं सुसाध्य उपाय बतलाया। अभी तक योगदर्शन में प्रकृति–पुरुष विवेक को ही प्रधानता दी गई थी। किन्तु अब अकस्मात् – ईश्वर प्रणिधानाद्वा कह करके ईश्वर का वर्णन किया। इसको सुन करके श्रोता जिज्ञासु आश्चर्य–चकित सा हो गया और उसने साहस पूर्वक कह दिया–

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति

अर्थात् प्रकृति–पुरुष से अलहदा ईश्वर नाम की यह क्या वस्तु है, इसके उत्तर में भगवान् पतंजलिदेव ने–

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश एवं अच्छे–बुरे कर्म एवं उनका फल–विपाक तदनुगुणा वासना ये सब के सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और पराजय तो योधाओं में हुआ करती है। किन्तु उनके मालिकों की मानी जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुतः वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अब तक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ है और वह ईश्वर –

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरू में होने वाले हिरण्य गर्भादिकों का भी गुरू है। क्योंकि वह काल की हद से परे है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है। जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है। उसी के लिए भगवान पतंजलिदेव ने **''पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्''** कह करके उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी कहते हैं:-

ईश्वर अनादिकाल से सिद्ध है। इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वे पूर्व गुरु जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सबका गुरु है। श्री पतंजलिदेव ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया।

अब हम उस ईश्वर को आत्मनिवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारे अभिमुख हो सके और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभीष्ट पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध रहा करता है और उसके लिए ईश्वर प्राप्ति का साधन भूत उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया-

तस्य वाचकः प्रणवः।।

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका, बहुत विस्तृत वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी की सत्ता प्रणव में विलीन हो जाती है।

प्रणवात्प्रभवो रूद्रः प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणव एवावशिष्यते।।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव से ही है और इनके बाद में प्रणव ही शेष रह जाता है। ओंकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं।

अतः भगवान पतंजलिदेव ने आदेश दिया है :-

तज्जपस्तदर्थ भावनम्।।

अर्थात् अर्थ-भावना सहित प्रणव का जप करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसलिए हमारे शास्त्रों का आदेश है -

स्वाध्यायाद्योगमासीत, योगात्स्वाध्यामामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या, परमात्मा प्रकाशते।।

स्वाध्याय से योग को प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है। प्रणव के जप का आदेश देते हुए भगवान पतंजलि देव ने ''तज्जपस्तदर्थ भावनम्'' कह करके प्रणव जप के साथ-साथ प्रणवाविधेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है।

ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाशित होना वर्णित है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमाँ गातिम्।।

अर्थात् 'ओम्' इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ मेरा ध्यान करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जप करने से एवं प्रणवाविधेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वर की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है और ईश्वराभिमुख होने के परिणाम स्वरूप समाधि को पा जाता है। तब उसके सब प्रकार के अन्तरायों की निवृत्ति एवं पापों का नाश हो जाया करता है। शास्त्रीय प्रवचन है कि –

योगाग्निर्दहति अशेषं पापपंजरम्।।

यही ध्यान योग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पाप–पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् का वचन है कि –

शैले समं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।।

यदि पापों का पहाड़ का पहाड़ भी हो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नष्ट करने का अन्य कोई सरल साधन नहीं है। रामायण में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं जिनमें भगवान श्रीराम ने अपने मुख से यह स्पष्ट कह दिया है कि – जीव के सम्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे लंका काण्ड में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गई वहां पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को अभयदान देते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

कोटि प्रिय बध लागेहि जेही, आये शरण तजहुँ नहिं तेही।।
सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं, कोटि जन्म अघ नाशहिं तबहीं।।

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही मनुष्य के अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकार का नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव कर ले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा एवं सिन्धु

में बिन्दु कीतरह अपनी आत्म सत्ता को परमात्मा सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। समाधि शब्द का अर्थ भी "समाधिः समतावस्था जीवात्मा परमात्मन:" अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकावस्था का नाम ही समाधि है। जब मनुष्य परम गुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आपको न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होता है कि – "इदमस्यानि–मतमस्तु" यह स्वाभाविक ही है। इसी लिए भगवान पतंजलिदेव ने ईश्वर प्रणिधान को अन्य "श्रद्धा–वीय–स्मृति–समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है।इसीलिए –

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया। ईश्वर प्रणिधान में साधक को किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उसका अनन्य चिन्तन एवं सर्व कर्मार्पणता ही उसकी सफलता का सफल साधन बन जाती है। ईश्वर प्रेमी किसी से बात नहीं करना चाहता किसी से विवाद नहीं करना चाहता। उसकी वृत्ति रहती है –

सुनत न काहू की कही, कहत न अपनी बात।
नारायण वा रूप में, मगन रहत दिन रात।।

ऐसा साधक ही प्रणवाभिधेय को प्राप्त करके निहाल हो जाया करता है।

● ● ●

लोहे की तरह ठोस मांसपेशियाँ

"हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायु वाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छा–शक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा–शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा। यही हमारे लिए परम आवश्यक है।"

नूतन वर्ष मंगलमय हो !

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

प्रिय गुरुभाई बहिन / पाठकगण

जय सद्गुरु जी की !

ईसवीं कलेन्डर वर्ष के अनुसार सन् 2013 समाप्त हो चुका है और सन् 2014 का आगमन हो रहा है। हमें अपने बीते वर्ष की उपलब्धियों पर एक नजर डालनी चाहिए और जो कार्य अधूरे रह गये हैं उनको पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतीत की गल्तियों पर विचार कर उनमें सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रेय मार्ग या कल्याण मार्ग पर चलने का संकल्प लेना चाहिए। मनुष्य सांसारिक सुख भोगों में अपना समय निकाल देता है और अन्त में पछताता है। ''भोगों न भुक्ता वयमेव भुक्ता:'' हम भोगों को भोगने का प्रयास करते हैं किन्तु भोग ही हमें खा जाते हैं। हम ही भुक्त हो जाते हैं। मनुष्य को एक सीमित आयु मिली हुई होती है इसी में बहुत काम करने होते हैं। जीवन को क्षणभंगुर कहा गया है – गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं –

दु:खालयमशाश्वतम् अर्थात् यह शरीर दु:खों का घर है और अनित्य है। जीवन में शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार के रोग लगे रहते हैं इसलिए भगवान कहते हैं –

'अनित्यमसुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम्' इस नश्वर शरीर की सार्थकता इसी में है कि हम ईश्वर को प्राप्त कर लें। प्रारब्ध के अनुसार पुण्य का फल सुख और पाप का फल दु:ख के रूप में हम भोग ही रहे हैं। भगवान पतंजलि देव जी कहते हैं कि भविष्य के दु:ख को हम हटा सकते हैं अत: सूत्र दिया है – 'हेयम् दु:खमनागतम्' अनागत दु:ख को हम हटा सकते हैं। योग साधना के विज्ञान से हम आने वाले समय के दु:ख को दूर कर सकते हैं। तप एवं समाधि से क्लिष्ट कर्म रूप दु:ख को तनु या हल्का किया जा सकता है। इसे योग में क्लेश का तन्वीकरण कहते हैं। महर्षि पतंजलि जी महाराज ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। पुरुषार्थ से मनुष्य अपने भाग्य को बदल सकता है। मनुष्य अपने भविष्य को सुधार सकता है। कुछ लोग कहा करते हैं कि भाग्य में जो लिखा है उतना ही मिलता है। यह ठीक है कि पूर्व कृत कर्म के अनुसार सुख दु:ख मिलता है किन्तु यह भी तो सिद्धान्त है कि मनुष्य कर्म के लिए स्वतन्त्र है उसे कर्म करना ही चाहिए। योगी सजग रह कर कर्म करता है। कोई ऐसा नया कर्म संस्कार नहीं बनने देता है जिससे वह और नये संस्कार के भुगतान में पिसता रहे। गीतामें इस संदर्भ में भगवान कहते

हैं - **योग सन्यस्त कर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम् आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।** अर्थात् योग ध्यान से जि । योगी ने कर्म फल को नष्ट कर दिया है। ध्यान के प्रभाव से सर्वसंशयो का नाश कर दिया है ऐसे आत्मनिष्ठ योगी को कर्मबन्धन में नहीं डालते। '**ध्यानात् कर्म फल त्यागः, त्यागाच्छान्ति रन्तरम्**' ध्यान का फल कर्मफल का त्याग है। त्याग से परमशान्ति को प्राप्त करता है। साधक को अपने मन में सदा शुभ ही संकल्प रखना चाहिए। वेद वचन है - '**तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु**' मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो। मेरे मन में शुभ विचार ही आयें। मैं मन से पवित्र रहूँ। जो मन से पवित्र होते हैं उन पर ईश्वर की कृपा रहती है। जैसा कि बाईबल में भी आया है -

'Blessed are the pure in heart for they shall see God.' पवित्रात्मा ईश्वर-दर्शन का अधिकारी होता है। मन का कालुष्य ही शारीरिक व मानसिक रोग के कारण होते हैं। साधक को अपने मन में यह विचार करना चाहिए कि मैं जन्मों-जन्मों से नाना शुभाशुभ योनियों में भटक रहा हूँ। अब की बार परमात्मा ने मुझे कृपा करके मानव देह प्रदान किया है अतः मैं आत्मोत्थान का प्रयास करूँ। गर्भोपनिषद में आया है कि गर्भ में सातवें माह में इसे दिव्य-दृष्टि मिलती है उस समय वह तरह-तरह की प्रतिज्ञायें करता है। वह कहता है -

'यदि योन्यः प्रमुच्येऽहं सांख्य योगमभ्यसे।' यदि अब की बार मैं सुरक्षित बाहर निकल आऊँ तो मैं सांख्य-योग, ध्यान योग का अभ्यास करूँगा जिससे मैं इस अशुभ संसार सागर से पार हो जाऊँ। इस प्रकार से जीव गर्भ में प्रतिज्ञायें करता है किन्तु जन्म लेने के बाद वैष्णवी वायु के स्पर्श लगते ही वह सब कुछ भूल जाता है। गर्भ के कष्ट तथा पूर्व जन्म की स्मृति रूप क्लेशों को याद नहीं रखता है। मनुष्य को शास्त्रों में चतुर्विध पुरुषार्थ की आज्ञा दी गई। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय कहलाते हैं। आत्मा को पतन में न गिरने देना ही धर्म है इसलिए याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने योग को धर्म के रूप में बतलाया है। जीवन को चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। अतः न्याय से अर्थोपार्जन करना चाहिए। जीव की कामनायें होती हैं उनको प्राप्त करना व उसमें अधिक लिप्त न होना पुरुषार्थ है। अन्त में मुक्ति के लिए प्रयत्न करना **परम पुरुषार्थ कहा गया है।** अस्तु!

हिन्दु मतावलम्बियों का नया वर्ष चैत्र शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ होता है। तभी नवरात्र भीप्रारम्भ होते हैं। विक्रम संवत 2071 का शुभारम्भ होगा इस संवत्सर का नाम प्लवंग होगा। यह नया वर्ष हम सब के लिए सुखदायी व मंगलमय हो यही श्री प्रभु जी के चरणों में प्रार्थना करते हैं।

महर्षि उद्दालक एवं पुत्र श्वेतकेतु

– डॉ. विजय सिंह

आध्यात्म का स्वरूप क्या है? छान्दोग्योपनिषद में महर्षि उद्दालक द्वारा अपने पठित ज्ञानी परन्तु अध्यात्म बोध रहित पुत्र श्वेतकेतु को जो और जिस विद्या से दिया गया है, उसमें अध्यात्म के स्वरूप का पूर्णता से उद्घाटन हुआ है।

महर्षि ने अपने बारह वर्षीय प्यारे पुत्र श्वेतकेतु को विद्या अर्जन हेतु गुरुकुल में भर्ती करा दिया जिससे ऋषि पुत्र वेदाध्ययन। विहीन न रह जावे। महर्षि ने अपने प्रिय पुत्र को आज्ञा दी रे श्वेतकेतु! तु जाकर अब गुरुकुल में निवास कर। पूर्ण ज्ञानार्जन के बाद ही यहाँ लौटना। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर श्वेतकेतु ने गुरुकुल में बारह साल परिश्रम पूर्वक, गुरुसेवा करते हुए, सब वेदों का अर्थ–सहित अध्ययन पूर्ण कर लिया। विद्या अभिमान से भरा हुआ गर्व युक्त, नम्रता रहित घर लौटा। महर्षि उद्दालक श्वेतकेतु के रगढंग में अभिमान एवं उडता देखकर प्रश्न किया – हे श्वेतकेतु! तूने अपने उपाध्यायों से ऐसी कौन–सी श्रेष्ठ विद्या सीख लिया है? जिसके ज्ञान से यह सारा जगत–व्यापार समझ में आता है, क्या उस महान उपदेश को तुमने अपने आचार्य से प्राप्त कर लिया है?

पिता का यह प्रश्न सुनकर, विचार कर, उसने विनम्रता पूर्वक कहा – पिताजी जिस विद्या के बारे में आपने कहा निश्चित ही हमारे उपाध्याय नहीं जानते अन्यथा उनसे वह भी मैं ज्ञात किया होता। अत: हमारे पूज्य पिता श्री मुझे उस विद्या का उपदेश दीजिए। महर्षि ने कहा – तुझे उस वस्तु का उपदेश दूंगा। सावधान मन से सुनो।

1. प्रिय पुत्र श्वेतकेतु! यह नामरूपात्मक जगत व्यक्त होने से पहले ब्रह्म (परमात्म) स्वरूप था। वह अखण्ड सद वस्तु है।

2. श्वेतकेतु ! माया शक्ति सम्पन्न उस परमात्मा ने जगत की सृष्टि करने की इच्छा किया और समयानुसार आकाश, वायु तथा उसके बाद अग्नि, जल एवं पृथ्वी की सृष्टि की। इन पंच महाभूतों से स्थूल जगत की भी रचना किया। अत: वे ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सब पदार्थों के सर्जक हैं। ये पंचभूत भी सत्य नहीं अपितु विकार–मात्र हैं। अत: तू जान ले कि इन सब प्रपंचों का मूल परमात्मा ही है।

3. जैसे धागे से बद्ध इधर–उधर उड़कर पक्षी कहीं आश्रय न पाकर अपने बंधन स्थान की शरण लेता है, वैसे सभी जीव जागृति एवं स्वप्न में कर्मानुसार सुख–दुःख भोगते हुए अन्त में विश्राम न पाने के कारण ब्रह्म की ही शरण में आता है। सुषुप्ति दशा में जीव–ब्रह्म एकता से उसे विश्राम प्राप्त होता है।

4. स्थावर और जंगम सभी पदार्थ इस ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। स्थिति की दशा में

ब्रह्माश्रय में ही जीते हैं, प्रलयकाल में इसी परमात्मा में लीन हो जाते हैं। यह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। त्रिकाल में अविकारी सत्ता एक मात्र ब्रह्म है। ''तत्वमसि श्वेतकेतो'' हे श्वेतकेतु वह तू है, तू ही ब्रह्म है।

5. जैसे भिन्न नाम रंग रूप वाले पुष्पों से मधुमक्खियाँ पराग रस एकत्र कर उसे मधु रूप में परिवर्तित कर देती हैं। मधु में जैसे भिन्न–भिन्न नाम रूप के पराग का अस्तित्व नहीं खोजा जा सकता वैसे ही निद्रा एवं मलय में सभी प्राणी ब्रह्म में प्रवेश करते हैं उन्हें यह ज्ञात नहीं रहता कि वे अब ब्रह्म में स्थित हैं।

6. जैसे भिन्न – भिन्न नाम–रूप–विस्तार वाली नदियाँ समुद्र में जाकर समुद्र ही हो जाती हैं। वैसे ही सभी जीव–जन्तु अखण्ड सत् को प्राप्त कर पुनः जब व्यवहार–भूमि में आते हैं तब वे नहीं जानते कि हम सत्स्वरूपता से ही जाग्रत होते हैं। हेतु श्वेतकेतु! वह सत् स्वरूप ब्रह्म तू ही है।

7. जब वह चैतन्य शरीर से अलग हो जाता है तब यह जड़ शरीर पंच महाभूतों में परिवर्तित हो जाता है। वह चैतन्य कभी नष्ट नहीं होता। शरीर में जो जीव–चैतन्य है वह कभी नष्ट नहीं होता। अतः श्वेतकेतु! वही ब्रह्म तू है। तू ही वह ब्रह्म है।

उपरोक्त प्रबोध वाक्यों के पश्चात महर्षि ने प्रयोगात्मक रूख अपना कर श्वेतकेतु को अनुभूति कराने हेतु बोले श्वेतकेतु! जल के इस घड़े में इन तमाम लवण को डाल कर रख दो, प्रातः घड़े को जल सहित मेरे पास लाना। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और अगले दिन घड़े सहित पिता के पास गया। महर्षि ने कहा – प्रिय पुत्र! तूने जो लवण जल में डाल रखा है उस लवण को मेरे पास लाओ।

श्वेतकेतु ने कहा – पिताश्री! लवण जल में घुल गया है उसे अब इस समय लवण रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। वत्स! तुम उस जल के ऊपर से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो, और स्वाद बताओ? पिता जी, जीभ पर रखा स्वाद नमकीन है। अच्छा। अब घड़े के मध्य से एक बूँद लेकर चखो। चखा! यह भी नमकीन ही है। अब तली से जल आस्वाद करो। किया यह भी नमकीन ही आस्वाद में आ रहा है।

हे पुत्र! उस जल में लवण व्यापक रूप से स्थित है जिसे देखकर या स्पर्श से नहीं समझ सकते हो। जीभ से उसे बोध कर सकते हो। तत्वमसि श्वेतकेतो! सदवस्तु एवं सर्वव्यापी वही ब्रह्म तू है। तू ही वह ब्रह्म है। इन्द्रियों से उसका बोध नहीं होता अन्य योगादि उपायों से उसे जाना समझा जाता है।

श्वेतकेतु ! एक कथा सुनो। एक बार – गांधार देश के एक पुरुष को डाकुओं ने लूटकर उसके आँखों पर पट्टी बांधकर बहुत दूर एक निर्जन–विशाल जंगल में ले जाकर छोड़ दिया। उसके हाथ पैर भी बांधे गये थे। नेत्रों पर पट्टी बंधी थी। बंधन में बंधा वन के अन्दर पड़ा उसे दिशाओं एवं रात्रि है या दिन का भी ज्ञान नहीं हो रहा था। वह अत्यन्त भयभीत और व्याकुल

होकर ऊँची आवाज में चिल्लाने एवं रोने लगा था कोई मुझे बचाओ, मुझे बन्धन मुक्त करो। एक दयालु पथिक ने उसका क्रन्दन सुनकर उसके पास जाकर उसे बन्धन मुक्त किया और उसे ठीक मार्ग पर लगा दिया और बताया कि गांधार देश कितनी दूर है और वहाँ पहुँचने का मार्ग कौन सा है। उस मार्ग से गांधार जाने पर क्या–क्या पड़ाव पड़ेंगें उसका भी बोध करा दिया। वह भयाक्रान्त व्यक्ति उस कृपालु आगन्तुक के कृपा से आश्वस्त हो धीरे–धीरे गांधार देश पहुँच गया। उपरोक्त कथानक में सद्गुरु कृपा से भवावरी में फंसे हम दीन जनों का कैसे उद्धार होता है, बताया गया है।

मोह रूपी पट से हम सभी के आँख जन्म–जन्मान्तर से बंधे हैं। यह संसार ही भयावह जंगल है। लालसा ऐषणाओं का ही डाकू है जो देहरूपी वन में बंधे दुःखी पुरुष को बिलबिलाता देख कृपालु सद्गुरु देव उसकी आँखें खोल सच्चे सत्पथ का ज्ञान कराते हैं। पुरुषार्थ एवं सद्विचार करता पुरुष सद्गुरु द्वारा प्रकाशित पथ से शनैः शनैः चलता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। अतः हे श्वेतकेतु। तुम समझ लो कि आचार्य का उपदेश उस सद्वस्तु को प्राप्त करने का मुख्य उपाय है। **तत्त्वमसि श्वेतकेतो।** जो बोध युक्त है वह इस शरीर से प्राप्त प्रारब्ध भोग को भोग कर अन्त में ब्रह्म से युक्त हो कैवल्य को प्राप्त करता है। अप्रबुद्ध अविद्या, कामनाओं एवं कर्म जनित संस्कारों के कारण फिर से जन्म ग्रहण करता मरता–जीता रहता है। वहीं कैवल्य बोध युक्त विदेह का पुनरावृत्ति न होकर उस परम चैतन्यधाम में ही अवस्थान रहता है। शरीर को नष्ट होना ही है। विज्ञ पुरुष हो या अविज्ञ दोनों के लिए ब्रह्म सम्पदा में कोई पक्षपात नहीं है। विज्ञ अपने को वही सद्ब्रह्म रूप जानने से पुनः शरीर धारण नहीं करता परन्तु अविज्ञ असत्य देहाभिमान जीवन भर करता रहता है, जिसके कारण वह फिर कर्मानुसार शरीर धारण करता है।

ब्रह्म बोध युक्त महर्षि उद्दालक जैसे सद्गुरु द्वारा तर्कों, दृष्टान्तों एवं उपदेश को सुनकर विचारवान, ब्रह्मचारी, उच्च मेधावान श्रेष्ठ अधिकारी श्वेतकेतु को हस्तामलक तत्व बोध तत्काल होगया। मैं देह आदि से भिन्न आत्मतत्व हूँ, यह आत्म तत्व ही सारे जगत का आधार ब्रह्म है। श्वेतकेतु! जीवन–मुक्त, कृतकृत्य हो आनन्द के साथ संसार में विहार करने वाला बन गया। अहंकार की निवृत्ति ही मोक्ष है। किसी विद्वान महापुरुष ने भगवान से प्रार्थना किया है–

आनन्द चिन्मय हरे! गोपिका–रमण। आनेन्न भावमिह तोन्नायक वेणमिहं
तोन्नुन्नतायकिलखिलम् आनितेन्न वषि। तोन्नेणमें वरद्! नारायणाय नमः।

अर्थात् – हे भगवान! मुझमें अहं की बुद्धि कभी न आए। यदि ऐसी बुद्धि हो तो उस अहं में सारा ब्रह्माण्ड ही समा जाए। अहंकार को बिल्कुल नष्ट कर सर्वत्र समदर्शी रहने वाले, साक्षात् ईश्वरी मूर्ति, मुक्त पुरुषों के चरण कमलों में हजारों हजार मेरा नमस्कार, नमस्कार।

● ● ●

गृहस्थ योग से भगवत्प्राप्ति

– डॉ. जे. पी. शर्मा, गुरु आशीष सदन, अनाज मण्डी पावंटा साहिब (हि.प्र.)

सृष्टि वृद्धि की अवधारणा से जब पति–पत्नि युग्म शरीर से एक प्राण होकर सन्तानोत्पत्ति करके जीवनचर्या पूरी करते हैं उन्हें गृहस्थी कहा जाता है। दो अलग–अलग आत्माओं के मिलन को आत्मयोग जाना जाता है। इसी तरह पति–पत्नि के शरीरों के मिलन को गृहस्थ योग कहा जाता है।

भगवान श्री कृष्ण जी महाराज ने कहा है –

मम रति कर्मजोग उर धरहीं, सन्तत नियत कर्म सब करही।
तउ सो मो प्रसादं अभिलाषी, पावे पद सास्वत अविनासी।।

कोई भी कर्मयोगी साधक मेरे परायण हुआ अपने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को सदा करता हुआ मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य के लिए गीता से बढ़कर कोई उपदेश अथवा पथ प्रदर्शक नहीं हो सकता क्योंकि गीता स्वयं भगवान श्री कृष्ण जी महाराज के श्री मुख से वाणी रूप में निकली हैं। गीता में भगवान जी ने स्वयं अपनी प्राप्ति के उपाय बतलाये हैं। वे सब सरल समझने योग्य तथा शीघ्र फलदायी हैं। घर में गृहस्थ रूप में रहकर भी भगवत्प्राप्ति का साधन बताने वाले शास्त्रों में गीता से बढ़कर अन्य कोई भी शास्त्र नहीं है। भगवान ने गीता में संन्यासी की व्याख्या कुछ इस प्रकार बतलायी है –

जो न रहै द्वेषी अभिलाषी, जानहु ताहि सतत सन्यासी।
कर्मयोगरत द्वन्द बिहाई, होय सुखी भवबंध मिटाई।। गीता 5/3

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और नहीं किसी की आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदैव सन्यासी ही मानने योग्य है। क्योंकि राग, द्वेष, द्वन्दादि से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार रूपी भव बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

भगवान श्री कृष्ण-चन्द्र जी महाराज ने गीता, 6/1 में कहा है –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

अर्थात् जो मनुष्य कर्मफल का सहारा न लेकर करने योग्य कर्म करता है वह सन्यासी तथा योगी है। केवल अग्नि का त्याग करने वाला सन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्यागी भी योगी नहीं है।

इसलिए गृहस्थ, कर्मफल की इच्छा न रखते हुए कर्म करता है अथवा कर्त्तव्य कर्मों का

पालन करता है, ऐसा गृहस्थ सन्यासी और योगी है। यथा –

कर्ममात्र अधिकार तब, फल महं किंचित नाहिं।
विरत होउ जनि कर्म सन, प्रीति न रखु फल मांहि।।

(हिन्दी गीता, 2/47)

भगवान ने आगे कहा है –

विषयन्ह महँ आसक्ति न लहही, सिद्धि असिद्धि दुहु नसम रहहीं।
रहि योगस्थ कर्मरत होई, योग समत्व कहवि सोई।।

अर्थात् भगवान श्री कृष्ण जी महाराज अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं। हे धनंजय! तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ अपने करने योग्य कर्मो को कर। यह समत्वभाव ही योग कहलाता है।

भाव है कि सन्यासी और योगी बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य घर गृहस्थी त्याग कर साधु सन्त बने तथा योग सीखें। घर गृहस्थी का पालन करते हुए सदाचार पूर्वक रहकर भी मनुष्य सन्यासी तथा योगी बन सकता है। जो मनुष्य संसार की किसी भी वस्तु, व्यक्ति तथा परिस्थिति को अपनी तथा अपने लिए नहीं समझता, ऐसा व्यक्ति सन्यासी ही मानने योग्य है। आदिकाल में हमारे पूर्वज गृहस्थ जीवन बिताते हुए परम पदों को प्राप्त हो चुके हैं। आकाश मण्डल में सप्त ऋषि आज भी विराजमान हैं। ये सब ऋषि गृहस्थ ही तो थे। भगवान श्री राम के कुल गुरु श्री वशिष्ट जी महाराज गृहस्थ ही थे। श्री भारद्वाज ऋषि जिनका आश्रम इलाहाबाद में था गृहस्थ ही थे। भगवान श्री राम जी ने चौदह वर्ष की वनयात्रा के अन्तर्गत पहला विश्राम, श्री भारद्वाज ऋषि के आश्रम में ही किया था।

नारी जाति हमेशा से ही आध्यात्मिक रही है और आज भी नारी भगवान की पूजा, भक्ति की प्रेरणाश्रोत हैं। रामचरित मानस के रचयिता महात्मा तुलसीदास जी को उनकी पत्नि से ही भक्ति की प्रेरणा मिली थी।

आसक्ति, ममता तथा कामनायें व्यक्ति को सदैव बाँधे रहती हैं। जब इनका नाशहो जाता है तब मनुष्य घर में रहे या सन्यासी बनकर किसी आश्रम में रहे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। आसक्ति हीन बनकर कर्तव्यों को करने से कर्मबन्धन कारक नहीं होते हैं। यथा –

गत आलंब कर्मफल त्यागी, नित्य तृप्त ईश्वर अनुरागी।
कीन्हेउं मैं असमति विसराहीं, करमन्ह बरति करै कछु नाहीं।।
दो. – कीन्हेउ जो नर चित्त बस, सर्व परिग्रह त्यागि।
तनु रक्षा हित कर्म करि, तेहि कोउ पाप न लागि।।
मत्सर द्वन्द्व विगत नर जोई, स्वयं प्राप्त जेहि तुष्टी होई।

सिद्धि असिद्धि दुहुन सम जानी, बंधै न कर्म पार्थ सोइ ज्ञानी।।

(हिन्दी गीता, 4/20–22)

अर्थात् जो पुरुष समस्त कर्मों में तथा उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभांति वर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता। जिसने अन्तःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है। जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है। ऐसा आशा रहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापों को प्राप्त नहीं होता। जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदैव सन्तुष्ट बना रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वदा अभाव हो गया है तथा हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो गया है – ऐसा सिद्धि तथा असिद्धि में समान रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उन कर्मों से नहीं बंधता।

घर गृहस्थ त्यागकर तथा गेरूये अथवा भगवा वस्त्र पहनकर भी अगर कोई साधु – सन्यासी महात्मा यदि आसक्ति वश धन या पदार्थों का संग्रह करने लगता है तथा लोगों से सम्बन्ध बनाये रखता है, तब ऐसे सन्यासी रूप से कोई लाभ नहीं है। इनकी अपेक्षा तो ऐसे गृहस्थी लोग श्रेष्ठ हैं जो गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए शास्त्रानुसार अपने कर्तव्य कर्मों का निष्काम भाव से पालन करते हैं। उन्हें निश्चित ही परमात्मा का परम धाम प्राप्त हो जाया करता है। भगवान ने गीता में अध्याय 18 के 56 श्लोक में स्पष्ट कहा है ।

सन्यासी के लिए परमावश्यक है कि वह सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करे। यथा –

पाय प्रियंहिं नहिं हरष मन, अप्रिय पाय नहिं खेद।
थिर मति संसय विगत थित, प्रभु मँह मानि अभेद।।

(गीता 5/20)

अर्थात् जो पुरुष प्रिय वस्तु के मिल जाने से खुश नहीं होता तथा अप्रिय के प्राप्त हो जाने से दुखी नहीं होता वह स्थिर बुद्धि संशय रहित पुरुष सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से स्थित है। यह आवश्यक नहीं ऐसा ब्रह्मवेत्ता पुरुष केवल आश्रम वासी सन्यासी ही हो। ऐसा पुरुष तो गृहस्थी भी हो सकता है। बहुत से साधू–सन्त महात्मा बड़ी–बड़ी कामनाओं को पाले रहते हैं। ऐसे साधु आजकल घूमते हुए देखे जा सकते हैं। अतः आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग सन्यासी का हो ही जायेगा।

जो तनु धरि जायेउ जग मांही, सो सब कर्म त्यागि सकि नाहीं।
एहि कारन कर्मन्ह फल त्यागी, हुयहैं सोय त्यागी बड़भागी।।

(गीता 18/11)

कामनाओं का त्याग आश्रम में रहकर ही हो ऐसा भी नहीं है। कामनाओं का त्याग तो घर

में रहकर गृहस्थी भी कर सकता है। कामनायें कभी समाप्त नहीं होतीं। एक कामना पूरी होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है। कामनायें कभी काम में नहीं आतीं। मानव कामनाओं की लम्बी–लम्बी ऊंची–ऊंची छलांगें मारता रहता है परन्तु वे सब पूरी तो नहीं हो पातीं।

मनुष्य कामनाओं के वशीभूत होकर कई तरह के पाप कर बैठता है। तरह–तरह के राग–द्वेष पैदा कर लेता है। ऐसा करूंगा, ऐसा चाहिए, किसी विशेष से घृणा करना, किसी को ज्यादा प्यार करना, आखिर यह सब कामनाओं के कारण ही होता है। यह सब अनर्थ द्वन्द रूप में ही होते हैं। भगवान ने इनके विनाश का बहुत ही उत्तम तथा सरल उपाय बतलाया है –

इन्द्रिय भोग दुखद विदु माना, तिन्ह महँ राग द्वेष बलवाना।
एहि कारन बस होउ न कोऊ, श्रेयमार्ग बाधक अरि होऊ।।

– गीता, 3/34

अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग–द्वेष छिपे हैं। मनुष्य को कदापि भी उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि वे दोनों ही मनुष्य के कल्याण मार्ग में बाधा डालने वाले परम शत्रु हैं।

राग–द्वेष के वश में होने का अर्थ है कि ये दोनों जैसा चाहें वैसा ही करें। परन्तु भूल कर भी ऐसा न करें। जैसे नेत्रों की इच्छा कोई सुन्दर रूप देखने की है तो सुन्दर रूप न देखें। अन्य इन्द्रियों के बारे में भी वैसा ही करें। याद रखें इन्द्रियाँ मन के नियंत्रण में होती हैं। अगर मन बलवान है तो आप मन के आधीन नहीं रह सकते। मन भी बुद्धि के आधीन रहता है तथा बुद्धि आत्मा के आधीन होती है। यथा –

देह परे इन्द्रिय रहैं, इन्द्रिय पर मन मानि।
मन सन पर मति मतिउ सन, पर एहि आतम जानि।। (गीता 3/42)

अर्थात् इन्द्रियां स्थूल शरीर से श्रेष्ठ होती हैं। ये बलवान और सूक्ष्म होती हैं। इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है तथा बुद्धि से भी पर आत्मा है।

जरा सोचिये इन्द्रियों में तो अपना बल ही नहीं है। मन तथा बुद्धि भी आत्मा से बल प्राप्त करके कार्य करती है तथा मनुष्य को पतन की तरफ ले जाती है। अतः इन्द्रियों को विषयों की तरफ रोकने का उपाय यही है कि उन्हें मन पर काबू पाकर नियंत्रित रखें तो दुष्कर्मों और पाप करने से अपने को जीवन भर बचाते रहें तभी कल्याण हो सकेगा।

किसी ने बहुत सटीक लिखा है –

मन लोभी मन लालची, मन चंचल चित चोर।
मन के कहे न चालिये, पलक पलक मन ओर।।

अगर बुद्धि सजग रहे तो बुद्धि विवेक से मन को दुष्कर्म करने से रोक सकते हो।

इसलिए अपने विवेक को सदैव जागृत रखने की आदत डाले रखें। बुद्धि विवेक को सजग रखने का सरल उपाय है स्वाध्याय करना, सत्संग में रहना तथा सत शास्त्रों का अनुशरण करना इत्यादि। याद रखिए! दुःसंग कदापि न करें। जो हमारे मन को भगवान, पूजा, पाठ आदि से भटकाये या हटाये उसे दुःसंग जानें। लम्बे समय तक दुःसंग करने से मानव पतन की तरफ अग्रसर होने लगता है। बुरी संगत करने से प्राणी में मोह पैदा हो जाता है जिससे मनुष्य बुद्धि विवेक से काम नहीं ले पाता तथा सही–गलत का निर्णय कर पाने में असमर्थ बन जाता है और दुष्कर्म कर बैठता है।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला,
तिनु ते पुनि उपजहिं बहु सूला।। (रा.च.मा. 7/120/15)

मोह के नाश के लिए सत्संग तथा हरि कथा, हरि स्मरण करना ही श्रेयस्कर होते हैं –

बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह भये बिनु राम पद होय न दृढ़ अनुराग।। (रा.च.मा. 7/61)

जब मनुष्य दृढ़ विश्वास के साथ समझने लगता है कि मैं भगवान का हूँ तथा भगवान मेरे हैं। भगवान के अतिरिक्त मेरा कोई भी नहीं है। मुझे भगवान के अलावा किसी प्राणी तथा पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। ऐसा दृढ़ निश्चय अवश्य ही साधक को ऊंची परमार्थिक स्थिति में पहुँचा देता है। ऐसा दृढ़ निश्चयी साधक गृहस्थी सन्यासी ही कहा जायेगा।

थोड़ा सोचिए कि एक दिन सब छोड़कर लम्बी यात्रा पर जाना ही पड़ेगा। अपने मरने पर भी सब कुछ, सगे सम्बन्धी, नाते रिश्ते, घर मकान, गाड़ी ठाट, आडम्बर यहीं तो रह जायेंगे। भला यह सब साथ थोड़े ही न जायेगा। अतः क्यों न हम अपनी तरफ से इ सब को छोड़कर परमार्थिक लाभ का आनन्द लेना शुरू कर दें। ताकि प्राण त्यागते समय इन सभी के बारे में इच्छा ही न रहे।

सुत बनि तादि जानि स्वाश्थरत न करू नेह सबही ते।
अंतहु तोहि तजैगे पामर क्यों न तजे अबही ते।।

(विनयपत्रिका 198)

सांसारिक पदार्थों का त्याग तो मन से ही होता है। यथा योग्य सांसारिक व्यवहार में तो कोई आपत्ति नहीं है। जब हम रेल यात्रा के समय रेल गाड़ी में बैठे होते हैं तो कहते हैं अमुक सीट तो मेरी है और उसे हम नहीं छोड़ते जबकि पता होता है कि यात्रा समाप्ति पर तो सीट छूट ही जायेगी। इसी तरह गृहस्थाश्रम में रहते हुए आसक्ति रहित होकर अपने–अपने सांसारिक कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए मनुष्य सुख पूर्वक भगवान को प्राप्त कर सकता है। भगवान ने कहा है –

करै कर्म आसक्ति निवारी, होइ सो ब्रह्म लाभ अधिकारी।
एहि लगि वचन मानि मम लीजे, अनासक्त रहि कर्मन कीजे।।

(गीता 3/19)

इसलिए तू हमेशा आसक्तिहीन रहकर कर्तव्य कर्मों को भलीभांति करता जा; क्योंकि आसक्ति रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ धर्म की अवधारण का सदैव ध्यान रखते हुए मनुष्य अपने आध्यात्मिक मार्ग का अनुशरण करते हुए परम पद प्राप्त कर सकता है। गृहस्थ धर्म में सभी का यथोचित्त ख्याल रखा जाता है तथा यथोचित्त पालन भी किया जाता है। यथा –

स्वामी इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ अतिथि न भूखा जाय।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मेरे परमाराध्य सद्गुरु भगवान श्री चन्द्रमोहन जी के पावन कमल चरणों में मेरा साष्टांग नमन !

●●●

हिन्दू होने का गर्व करो

जब कोई मनुष्य अपने पूर्वजों के बारे में ही लज्जित होने लगे तब समझ लो कि उसका अन्त आ गया। मैं यद्यपि हिन्दू जाति का एक नगण्य घटक हूँ किन्तु मुझे अपनी जाति पर गर्व है, अपने पूर्वजों पर गर्व है। मैं स्वयं को हिन्दू कहने में गर्व अनुभव करता हूँ। मुझे गर्व है कि आप लोगों का एक तुच्छ सेवक हूँ। तुम ऋषियों की सन्तान हो, तुम्हारा देशवासी कहलाने में मैं अपना गौरव मानता हूँ। उन महान ऋषियों के वंशज हो जो संसार में अद्वितीय रहे हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

मानवता के लिए सर्व रोगघ्न औषधिः योग

अनुवादक : डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, पूर्व विभागाध्यक्ष–मनोविज्ञान
लेखक : डॉ. रमन नायर – मानविकी संकायाध्यक्ष कोचीन वि.वि. – कोचीन (केरल प्रान्त)

हमारा भारत अपार ज्ञान का भंडार है, उस ज्ञान का जो सार्वकालिक है और जिसकी परम्परायें निःसार नहीं है। उन्हीं विद्याओं में से एक योग है जो सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक है और शताब्दियों से प्रचलित है। यह बहुत व्यापक है परन्तु उनमें राजयोग और हठयोग प्रमुख हैं। ये दोनों मार्ग आत्मा के परमात्मा से मिलन में सहायक होते हैं।

यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि योग विज्ञान केवल अंतिम सत्य का साक्षात्कार ही नहीं कराता बल्कि यह समग्र मानवता का कल्याण भी करता है। राजयोग के आठ अंग हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। इनमें प्रथम चार शारीरिक, मानसिक और नैतिक शुद्धिकरण के सिद्धान्त हैं जिनका उद्देश्य सामाजिक कल्याण के साथ शारीरिक और मानसिक उन्नति है। यम पांच हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। यम आत्मोन्नति और सांस्कृतिक उन्नति के मार्ग हैं जो आत्मसंयम चाहते हैं। इनका वास्तव में पालन अत्यन्त कठिन है। परन्तु इनका थोड़ा सरलीकरण सांसारिक व्यक्तियों के लिए लाभप्रद होगा। जैसे हम यह संकल्प कर लें कि हम सामान्यतः असत्य से दूर रहेंगे और केवल उसी दशा में झूठ बोलेंगे जब किसी का भला हो रहा होगा। हम चोरी और रिश्वत से दूर रहेंगे, किसी से न झगड़ेंगे और न जलील करेंगे जो अहिंसा का रूप होगा। हिंसा केवल आत्मरक्षार्थ ही करेंगे। भोजन में भी मांसाहार से बचेंगे। यदि सभी ऐसा करें लगेंगे तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जावेगा। अस्तेय और अपरिग्रह का सरलीकरण नहीं हो सकता। चूँकि सभी अन्योन्याश्रित हैं अतः हमें स्वयं की मनोदशा तदानुकूल करनी होगी। ब्रह्मचर्य की व्याख्या अनेक रूपा है। यद्यपि इसका सही अर्थ ब्रह्म में लीन होना है परन्तु उसके लिए शारीरिक स्तर पर सैक्स से दूर रहना भी आवश्यक है। असमय और अस्वाभाविक सैक्स पशु (ब्रूटल) बना देता है। यद्यपि जानवरों में सैक्स का मौसम होता है परन्तु आदमी चौबीसों घण्टे में कभी भी इच्छा बना लेता है। इससे आर्थिक और सामाजिक समस्यायें बढ़ती हैं। यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न हो सके तो 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' की अवधारणा का पालन उन्नति में सहायक होता है। साथ ही व्यस्तता भी शैतानी से दूर रखती है। इन पाँच नियमों का सरल, स्वाभाविक और संभव रूप में पालन अनेक समस्याओं से मुक्ति दिलाने में सहायक होगा। तन मन शुद्ध रहेगा और वासनाओं (इच्छाओं) का उन्नयन भी होगा।

यम की भांति नियम भी पाँच हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। एक योग साधक को इनका पालन आवश्यक है। गृहस्थ भी इनका पालन कर सकता है। शौच शरीर और मन की शुद्धि है जो व्यक्ति औरपरिणामस्वरूप समाज के लिए आवश्यक है। संतोष के अभाव

में व्यक्ति सदैव तनाव ग्रस्त रहता है और अनैतिकता की ओर अग्रसर होता रहता है। संतोष प्रसन्नता का मूल है। तप आत्मानुशासन का नाम है। जैसे सोना तपाने पर स्वच्छ और कुंदन बनता है वही बात तप द्वारा मनुष्य के लिए कहीं जा सकती है। इससे इच्छा शक्ति, संकल्पशक्ति बढ़ती है। स्वाध्याय का अर्थ ज्ञान के प्रति जिज्ञासा है। इससे अभिमान और अहम का नाश होता है। ईश्वर प्रणिधान दूसरे शब्दों में प्रभू के प्रति आत्म समर्पण है। इन दिनों आस्था के अभाव में यह भावना समाप्त हो रही है और जीवन मूल्यों का क्षरण हो रहा है। उपरोक्त विवेचन से नियमों का महत्व स्पष्ट है।

यदि यम और नियम का पालन सभी लोग करने लगे तो यह पृथ्वी शान्ति, नैतिकता, समर्पण, स्वार्थहीनता, बलिदान, प्रेम और अहिंसा का मंदिर बन सकती है। उपरोक्त से योग के इस पक्ष की महत्ता स्पष्ट है।

(हठयोग की महत्ता अगले अंक में .....)

● ● ●

परम हंस श्री रामकृष्ण देव जी के शब्दों में

"सभी उन्हें पुकार रहे हैं। ईर्ष्या द्वेष की जरूरत नहीं। कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार। मैं कहता हूँ, जिसका साकार में विश्वास है वह साकार का ही चिन्तन करे और जिसका निराकार में विश्वास है, वह निराकार का ही ध्यान करे। मेरा धर्म ठीक है, बाकी सबका गलत है - ऐसी धर्मान्धता अच्छी नहीं।" उन्होंने सभी धर्मों के अनुयायियों का मार्ग दर्शन करते हुए कहा - 'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, शैव, वैष्णव, ऋषियों के समय के ब्रह्मज्ञानी और आजकल के ब्रह्मज्ञानी तुम लोग - तुम सभी एक ही वस्तु चाह रहे हो। पर हाँ, जिसका पेट में जैसा सहन होता है, माँ ने उसी प्रकारकी व्यवस्था की है।"

कर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में (1894 के पत्र से लिया हुआ)

हमारी जाति से कोई भी आशा नहीं की जा सकती। किसी के मस्तिष्क में कोई मौलिक विचार जाग्रत नहीं होता, उसी एक चिथड़े से सब कोई चिपके हुए हैं राम कृष्ण परम हँस देव ऐसे थे और वैसे थे, वही लम्बी चौड़ी कहानी जो बेसिर पैर की है। हाय भगवन तुम लोग भी तो ऐसा कुछ करके दिखलाओ कि जिससे यह पता चले कि तुम लोगों में भी कुछ असाधारणता है – अन्यथा आज घण्टा आया, तो कल बिगुल और परसों चमर, आज खाट मिली, कल उसके पायों को चाँदी से मढ़ा गया – आज खाने के लिए लोगों को खिचड़ी दी गयी और तुम लोगों ने दो हजार लम्बी चौड़ी कहानियाँ गढ़ी– वही चक्र, गदा, शंख, पद्म तथा शंख, गदा, पद्म, चक्र ये सब निरा पागलपन नहीं तो और क्या है? अंग्रेजी में इसी को (Imbecility) (शारीरिक तथा मानसिक कमजोरी) कहा जाता है। जिन लोगों के मस्तिष्क में इस प्रकार की ऊल–जलूल बातों के सिवाय और कुछ नहीं है, उन्हीं को जड़ बुद्धि कहते हैं। घण्टा दाँयी ओर बजना चाहिए अथवा बांयी ओर, चन्दन माथे पर लगाना चाहिए या अन्यत्र कहीं, आरती दो बार उतारनी चाहिए या चार बार – इन प्रश्नों को लेकर जो दिन–रात माथा पच्ची किया करते हैं, उन्हीं का नाम भाग्यहीन हैं और इसीलिए हम लोग श्रीहीन तथा जूतों की ठोकर खाने वाले हो गये तथा पश्चिम के लोग जगद्विजयी... आलस्य तथा वैराग्य में आकाश–पाताल का अन्तर है।

यदि भलाई चाहते हो, तो घण्टा आदि को गंगाजी में सौंपकर साक्षात भगवान नारायण की विराट और स्वराट की मानव देह धारी प्रत्येक मनुष्य की पूजा में तत्पर हो। यह जगत भगवान का विराट स्वरूप है, एवं उसकी पूजा का अर्थ है, उसकी सेवा–वास्तव में कर्म इसी का नाम है, निरर्थक विधि उपासना के प्रपंच का नहीं। घण्टों के बाद चमर लेने का अथवा भात की थाली भगवान के सामने रखकर दस मिनट बैठना चाहिए या आधा घण्टा इस प्रकार के विचार–विमर्श का नाम कर्म नहीं है, यह तो पागलपन है। लाखों रुपये खर्च कर काशी तथा वृन्दावन के मन्दिरों के कपाट खुलते और बन्द होते हैं। कहीं ठाकुर जी वस्त्र बदल रहे हैं, तो कहीं भोजन अथवा और कुछ कर रहे हैं, जिसका ठीक–ठीक तात्पर्य हम नहीं समझ पाते... किन्तु दूसरी ओर ठाकुर भोजन तथा विद्या के बिना मरे जा रहे हैं। बम्बई के बनिया लोग खटमलों के लिए अस्पताल बनवा रहे हैं किन्तु मनुष्यों की ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं है चाहे वे मर ही क्यों न जायें। तुम लोगों में इन बातों को समझ लेने तक की भी बुद्धि नहीं है, यह हमारे देश के लिए प्लेग के समान हैं, और पूरे देश में पागलों का अड्डा है।

तुम लोग अग्नि की तरह चारों ओर फैल जाओ और उस विराट की उपासना का प्रचार करो जो कि कभी हमारे देश में नहीं हुआ है। लोगों के साथ विवाद करने से काम न होगा, सबसे

मिलकर चलना पड़ेगा।...

गाँव गाँव तथा घर–घर में जाकर भावों का प्रचार करो, तभी यथार्थ में कर्म का अनुष्ठान होगा, अन्यथा चुपचाप चारपाई पर पड़े रहना तथा बीच–बीच में घण्टा हिलाना–स्पष्टतया यह तो एक प्रकार का रोग विशेष है। ...स्वतंत्र बनो, स्वतन्त्र बुद्धि से काम लेना सीखो – अन्यथा अमुक तन्त्र के अमुक अध्याय में घण्टे की लम्बाई का जो उल्लेख है, उससे हमें क्या लाभ? प्रभू की इच्छा से लाखों तन्त्र, वेद, पुराणादि सब कुछ तुम्हारी वाणी से अपने आप निःसृत होंगे।

●●●

गुरु चरणों में ध्यान लगा

– विजय शर्मा, सहारनपुर

तर्ज – धीरे–धीरे बोल...

गुरु चरणों में ध्यान लगा ध्यान लगा, भई मन को लगा
गुरुदेव सा जग में कोई नहीं, शक्ति भी किसी से कम नहीं

पावन सुन्दर जग में प्रभु का नाम
नाम भजन से बन जायेंगे काम
प्रभु नाम जप, सुबह शाम जप
हरी नाम सिमर बन्दे पल–पल
संकट जायेंगे तेरे टल ....
गुरु चरणों में...

प्रभु कृपा से पाया सुन्दर तन
हरी चरणों में अपना लगा लें मन
गुरु द्वार पे आ, तत्व ज्ञान को पा
गुरु रूप में आये चन्द्रमोहन,
अवतारों ने पाई इनकी शरण ...
गुरु चरणों में...

योग सुधा को लाये प्रभु राम लाल
अपनी कृपा से कर रहे हमें निहाल
दिया जग को योग, मिटे तन के रोग
सारे कष्ट मिटाते है यहीं,
सिद्ध गुफा सा कोई दर नहीं ...
गुरु चरणों में ...

चित्त की वृत्तियां नाच रही दिनरात
प्रभु मिलन की कैसे बनेगी बात
अन्तर्ज्योत जगा, दर्श प्रभु जी का पा
प्रभु चरणों में आयेगा जिस घड़ी
हट जाये विकारों की सब लड़ी...
गुरु चरणों में ...

आध्यात्मिक प्रगति के तीन मार्ग

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

यह गणितीय सूत्र शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर आध्यात्मिक प्रगति की रूपरेखा प्रदान करता है। इस रूपरेखा में प्रगति के तीन मुख्य मार्गों का संकेत दिया गया है। (1) ज्ञानमार्ग (सांख्ययोग) (2) भक्तिमार्ग (3) साधन मार्ग (कर्मयोग)। यह तीनों मार्ग परस्पर सम्पूरक हैं और सूत्र के अवयवों के माध्यम से परस्पर संयुक्त हैं। तीनों मार्गों का अन्तिम गन्तव्य स्थान अध्यात्मसिद्धि है। यह मार्ग तीन मुख्य पथ हैं जोकि एक ही संसाररूपी भयानक जंगल से गुजरते हुए एक ही लक्ष्यस्थान पर पहुँचते हैं किन्तु मार्ग के अनेक स्थानों पर पुनः पुनः संयुक्त, सहयोगी तथा पृथक–पृथक पथ का अनुसरण करते हैं। किस साधक के लिए कौन सा मार्ग सुगम तथा अनुकूल होगा यह उस साधक के पूर्वसंस्कारों से निर्मित स्वभाव पर निर्भर करता है। मनुष्ययोनि के इतरयोनियाँ भोगयोनियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक संस्कार सुप्तावस्था (R=O, S=I) में रहते हैं। अतः उन योनियों में कोई आध्यात्मिक साधना नहीं होती। मनुष्ययोनि में R>,0 तथा S>,I रहता है जिसका वर्णन हमने सूत्र की भूमिका में किया है। यही मनुष्ययोनि की विशेष महत्ता है तथा इसी योनि में अध्यात्मसिद्धि (S-co) सम्भव है जबकि R>1 तथा तीव्र पुरुषार्थ एवं साधना के साथ साधक गुरुकृपा तथा ईश्वरकृपा का अधिकारी हो, अन्यथा नहीं। शास्त्र का प्रमाण है कि –

यदेव विद्यया करोति श्रद्धोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।।

(छान्दो.उप. 1/1/10)

तीव्रसंवेगानां आसन्नः
भवप्रत्ययः विदेहप्रकृतिलयानाम्
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्

(योगदर्शन 1/19,20,21)

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेत् विधे।।

अर्थात् आध्यात्मिक साधना में विवेकज्ञान तथा वैराग्य के साथ अनन्यभक्तिपूर्वक

कठोर साधना वाला पुरुषार्थ ही शीघ्र फलदायी होता है। जीवात्मा अनादिकाल से माया के बन्धन में है और उसके अन्त:करण में अनन्त जन्मों के कर्माशय का मलावरण है। ऐसी स्थिति में माया के मलावरण का नाश कर अन्त:करण को निर्मल बनाना अत्यन्त दुरूह तथा कठिनतम कार्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

अर्थात् गुणमयी परमात्मा की माया के पाश से मुक्ति दुर्लभ है, परमात्मा में अनन्या भक्ति ही एकमात्र उपाय है किन्तु –

जन्मान्तरसहस्त्राणां तपोज्ञानसमाधिभि:।
जनानां क्षीणपापानां कृष्णे भक्ति: प्रजायते।।

अर्थात् निरन्तर हजारों जन्मों की तपस्या, विवेकज्ञान तथा अष्टांगयोग की कठिन साधना के द्वारा पाप नष्ट होने पर ही परमात्मा में अनन्या भक्ति होती है। समाधि की साधना से अन्त:करण में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने पर विदेहावस्था तथा प्रकृतिलय योगी ही एक जन्म में इस योगसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा श्रद्धाभक्ति, तप, आध्यात्मिक संस्कारों का संचय तथा सप्तधाप्रज्ञा वाली समाधियों की निर्बाध तथा निरन्तर साधना के द्वारा पुण्यों की वृद्धि से सिद्धपुरुषों की संगति पाकर उनकी कृपा तथा निर्देशन से यह सम्भव है। परमात्मा स्वयं अनादि सिद्ध है। अत: सिद्धकृपा से ही माया से मुक्ति सम्भव है, क्योंकि शास्त्र का कथन है कि –

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यैव अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यत: प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी।।

अर्थात् यह संसाररचयिता प्रकृति परमात्मा की माया ही है और परमात्मा स्वयं मायावी यानि मायापति है। यह संसार इसी माया द्वारा रचित अवयवों से ही बना है। अत: इस माया से मुक्ति उसी को आत्मनिवेदन से सम्भव है अन्यथा नहीं। ज्ञानमार्ग में आत्मचिन्तन ही आत्मनिवेदन है, भक्तिमार्ग में अनन्या भक्ति ही आत्मनिवेदन है तथा साधनमार्ग में साधना के फल को सिद्ध महापुरुष के चरणों में समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन है। यह तीनों मार्ग एक दूसरे पर किस प्रकार आश्रित हैं इसका प्रमाण भी हमारे शास्त्र वाक्य हैं कि –

सन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत:।
योगयुक्तो मुनि: ब्रह्मनचिरेण अधिगच्छति।।
पुरुष: स: पर: पार्थ भक्त्या लभ्य: तु अनन्यया।
यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।

जन्मान्तरसहस्त्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः।
जनानां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मसु अनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढः तदोच्यते।।
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

अर्थात् ज्ञानमार्ग का सन्यासधर्म शरीरधारियों के लिए अत्यन्त कठिन उपासना है क्योंकि निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय तथा कूटस्थ परम ब्रह्म में मन तथा बुद्धि को समाहित करना बुद्धिबोधात्मक मनुष्य के लिए दुर्लभ सिद्धि है। इसके लिए पहले परमात्मा के सगुण स्वरूप में मन तथा बुद्धि की लयता यानि समाधि की योगसाधना आवश्यक हो जाती है और तब योगयुक्त होकर ही अव्यक्त निर्गुण परमब्रह्म में प्रवेश सम्भव है। इसी प्रकार उस परम ब्रह्म का तत्वज्ञान भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है, क्योंकि जिसके सर्वाधार सर्वव्यापक स्वरूप में सभी प्राणियों का निवास है तथा जिसकी माया के अवयवों से संसार व्याप्त है उसी की कृपा से चित्त में ज्ञानज्योति का उदय होता है। अतः ज्ञानमार्ग का तत्वज्ञान भक्ति एवं योगसिद्धि पर भी आश्रित है। भक्तिमार्ग की अनन्या भक्ति का उदय भी सहस्त्रों जन्मों की योगसाधना तथा विवेकज्ञान के द्वारा पापसंस्कारों के नष्ट होने पर ही निर्मल चित्त में होता है। योगसिद्धि के लिए भी सर्वसंकल्प सन्यास तथा विषयभोगों से पूर्ण वैराग्य परमावश्यक है। इसी तरह जिस परमात्मा के स्वरूप से यह जगत प्रकट हुआ अपनी कर्मयोग की साधना से उसकी भक्ति के बिना योगसिद्धि सम्भव नहीं होती, क्योंकि अनन्या भक्ति से ही परमात्मभाव में प्रवेश कर परमात्मा के तत्वज्ञान के बाद ही योगी को योगसिद्धि प्राप्त होती है। अतः सभी तीनों मार्ग अन्योन्याश्रित हैं। किस साधक को किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए यह उसके स्वभावगत संस्कारों पर निर्भर करता है। भगवान श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है कि –

स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छति यन्मोहात करिष्येस्यवशोऽपि तत्।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजयेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेन अधिगच्छति।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।।

अर्थात् माया के गुणकर्मविधान में प्रारब्ध को भोगने के लिए जीवात्मा को योनि की प्राप्ति होती है। इन्हीं प्रारब्धकर्मों से मनुष्य का स्वभाव बनता है। अतः स्वभावज कर्मों को करने के लिए प्रत्येक प्राणी बाध्य होता है और यदि मनुष्य अपने अहंकार से स्वभावज कर्मों की अवहेलना करता है तब भी प्रकृति उस कर्म को करने के लिए उसे विवश कर देगी, क्योंकि प्रारब्ध के भुगतान के बिना तो उसकी जीवनयात्रा भी नहीं चलेगी। अज्ञानी तो मायाबद्ध है और मायिक विधान के अनुसार कर्मभोग के लिए विवश है किन्तु मायातीत ज्ञानी को भी शरीर का प्रारब्धभुगतान करना पड़ता है। इसलिए यह परमात्मा का संदेश है कि दोषपूर्ण होते हुए भी स्वभावज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि में धुआँ का दोष छिपा रहता है उसी प्रकार प्रत्येक कर्म में कोई न कोई गुणदोष रहता है, इसलिए कर्म के कर्मफल को मन से परमात्मा को समर्पण कर देने से गुणदोष से मुक्ति तथा परमात्मा में भक्ति का लाभ मिलता है। कर्मफल में निरासक्ति, परमात्मा में प्रेमभक्ति तथा संकल्प-विकल्परहित चित्त में कर्मबन्धन से मुक्ति तथा ज्ञानचक्षु की प्राप्ति होती है। इसलिए सांसारिक व्यवहार में सभी कर्मों का लक्ष्य लोकहित तथा परमात्मा की प्रसन्नता होने से मार्ग की समस्त बाधायें नष्ट हो जाती हैं और आध्यात्मिक प्रगति सुगम हो जाती है, क्योंकि यह तो परमात्मा का स्वभाव है कि –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

अर्थात् जो मनुष्य मुझे यानि परमात्मा को जिस भावना से भजता है परमात्मा भी अपनी अनन्त शक्ति तथा सर्वज्ञता से उसे उसी भावना से भजता है यानि दुःखों से पूर्णमुक्ति दे देता है। यदि अपने अहंकार के वशीभूत जो मनुष्य परमात्मा की अहैतुकी कृपा का लाभ नहीं उठाते, वह माया के इस भवसागर में डूबते रहते हैं। निष्कर्ष यही है कि स्वभावज प्रारब्धकर्मों का निर्लिप्त तथा निरासक्त भाव से पालन करते हुए जो अपने स्वभावानुकूल मार्ग पर चलते रहते हैं उन्हें ही अध्यात्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त होता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिए मैं अपने जीवन की कुछ सत्य घटनायें बताना चाहता हूँ, यद्यपि मुझे संकोच है क्योंकि सबकी श्रद्धा तथा संस्कारों की स्थिति भिन्न होती है। एक घटना तो गुरुमुख से सुनी हुई है जिस पर मुझे पूर्ण विश्वास है। गुरु जी ने बताया कि उनके वृन्दावन के निवासकाल में एक वैराग्यवान साधक मिला जिससे घनिष्ट मित्रता हो गयी थी। महाप्रभु जी के विषय में गुरुदेव से सुनकर उसकी उनके दर्शन तथा दीक्षा लेने की इच्छा हो गई थी। गुरुदेव का प्रिय पात्र होने के नाते उसे ऋषिकेश लाने की पत्र द्वारा आज्ञा माँगी तो महाप्रभु जी ने उत्तर में मना कर दिया। कई बार प्रयास करने पर भी जब आज्ञा नहीं मिली तो बिना आज्ञा के ही उसे ऋषिकेश अपने साथ ले

जाने की तिथि निश्चित कर ली। जिस दिन रात्रि की ट्रेन से जाना था उस दिन प्रतिदिन की दिनचर्या के अनुसार सुबह बांकेबिहारी जी के मन्दिर में आरती में सम्मिलित हुए तब आरती के बाद भी उस मित्र की आँख नहीं खुली और वह शाम तक उसी मुद्रा में मन्दिर में ही ध्यानस्थ रहा। जब शाम को उसका ध्यान टूटा तब उससे ध्यान के विषय में पूछा और ऋषिकेश चलने को कहा। उसने ऋषिकेश जाने को मना कर दिया और अपना अनुभव बताया कि आरती के समय उसे अपने सिर पर किसी के हाथ का स्पर्श का अनुभव हुआ तो उसकी दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति जीवित दिखाई देने लगी और वह ध्यानस्थ हो गया और ध्यान टूटने तक भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य लीलायें देखता रहा। अतः वह अब कहीं नहीं जायेगा और वृन्दावन में ही रहकर भगवान की उपासना करेगा। इस घटना के उपरान्त जब गुरु जी ऋषिकेश गये और महाप्रभु जी से आज्ञा न देने का कारण पूछे तब महाप्रभु जी ने कहा कि उसमें भक्तिमार्ग के संस्कार हैं। अतः उसका यहाँ लाना ठीक नहीं था क्योंकि उसमें योगसाधना करने के संस्कार नहीं हैं। यह घटना सिद्ध करती है कि स्वभावज मार्ग अपनाना ही श्रेयष्कर है। अब मैं अपने जीवन की कुछ सत्य घटनायें बताना चाहता हूँ जो यह सिद्ध करती हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन जगदम्बा की कृपा से प्रारब्धसंस्कारों के अनुसार चलता है। मेरा जन्म मुरादाबाद जिला के एक गाँव में गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ। उच्च शिक्षा के लिए माता–पिता कोई आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे। जूनियर हाईस्कूल (मिडिल क्लास) के बाद हमारे अध्यापक ने छात्रवृत्ति की परीक्षा दिलाई, उत्तीर्ण हुए और मुरादाबाद में बैजनाथ संस्कृत पाठशाला में रहने, खाने–पीने की मुफ्त व्यवस्था हो गयी, संस्कृत का अध्ययन करते हुए कॉलिज में नवें क्लास में प्रवेश मिला। इस प्रकार इण्टर के साथ–साथ मध्यमादि की संस्कृत परीक्षायें उत्तीर्ण की और पाठशाला के प्रधानाचार्य सुप्रसिद्ध विद्वान सुदर्शनाचार्य जी ने पत्र लिखकर आगरा भेज दिया जहाँ आलू वाले बाबा के सन्यासी आश्रम में एक महापुरुष स्वामी नित्यानन्द जी महाराज ने रहने को कमरा दे दिया और स्वामी जी के सत्संगियों ने अपने बच्चों को पढ़ाने के ट्यूशन दे दिये। यह सब इस तरह घटित हो रहा था जैसे जगदम्बा स्वयं घटनाचक्र चला रही हों। 1958 में आगरा कॉलिज से बी.ए. उत्तीर्ण करने पर तीव्र वैराग्य हुआ और स्वामी जी से सन्यास लेने की आज्ञा माँगी तो उन्होंने मना कर दिया और कहा कि "सन्यास लिया नहीं जाता अपितु हो जाता है, तुम सन्यासधर्म के अधिकारी नहीं हो।" इस घटना के पश्चात् स्वामी जी के एक सत्संगी पं. लक्ष्मी नारायण वैद्य जी मेरे कमरे में आये और बोले कि यहाँ से 15 किमी. की दूरी पर 'सिद्धगुफा' है वहाँ एक सिद्धयोगी श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ब्राह्मण के वेश में रहते हैं, दर्शन करने चलोगे। मैंने हामी भर दी और उनके साथ मैंने उनके दर्शन किये। मैं कुछ दिन के लिए वहीं ठहर गया। मुझे गुरुदीक्षा मिल गयी। मन की एकाग्रता तेजी से बढ़ी। रामनवमी के अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गणित के प्रवक्ता डॉ. विनोद बिहारी जौहरी गुरु जी के दर्शन के लिए आये और गुरु जी ने उन्हें आज्ञा दी कि वह मुझे अपने साथ ले जायें और विश्वविद्यालय में मेरा प्रवेश करायें। मैं इलाहाबाद आ गया, प्रवेश भी मिल गया और अपने घर के पास ही एक छोटा कमरा

भी दिला दिया। एम.ए. (मैथ्स) के क्लास में जाना आरम्भ किया तो विभाग के प्रवक्ता श्री बनवारी लाल शर्मा जी ने तीन ट्यूशन दिला दिये। मैं अपने पिछले 50 वर्षों की जीवनगाथा नहीं लिखना चाहता बस इतना कहना चाहता हूँ कि प्रारब्धभोग माया की अनिवार्य व्यवस्था है और मेरा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि मेरे गुरुदेव को मेरे जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का पूर्वज्ञान था। परमात्मसाक्षात्कार के लिए निर्मल चित्त की स्थिति की अनुकूल घटना मनुष्य के जीवन की अन्तिम घटना है, क्योंकि कृतार्थ महापुरुष का प्रारब्ध नहीं बनता। माया के गुण ही उसके लिए पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं। अब मैं परमात्मा की वाणी में तीनों मार्गों का संक्षिप्त वर्णन देना चाहता हूँ।

ज्ञानमार्ग

ज्ञानमार्ग अध्यात्म–सिद्धि का कठिनतम मार्ग है। कारण यह है कि जिस चित्त में परमात्मज्ञान का उदय होता है उसकी कल्पना करना भी कठिन है, क्योंकि –

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवतिष्ठिति:।
जागृतनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थिति परा।।
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिः गुणानाम्।
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं।।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः इति।।

अर्थात् चित्त में गुणप्रेरित संकल्प–विकल्पों का धाराप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जागृत की स्थिति में एक क्षण के लिए भी यह प्रवाह रुकता नहीं है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण भी इसकी पुष्टि करते हैं –

नहिं कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः।।

अर्थात् माया के द्वारा निर्मित चित्त एक क्षण के लिए भी चित्तवृत्तिरहित नहीं रहता, वह सदैव गुणप्रेरित भावनाओं के वशीभूत स्थूल, सूक्ष्म अथवा मानसिक कर्मों में व्यस्त रहता है। कर्म का आकार एवं दिशा गुणों के क्रमपरिणामों पर निर्भर करती है जैसे कि सतोगुण के प्रभावी होने पर चित्त में श्रेयमार्ग यानि परमात्मज्ञान की दिशा में आगे बढ़ने के संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है, रजोगुण के प्रभावी होने पर मिश्रितमार्ग यानि संसार में प्रवृत्ति की दिशा में कर्म के संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है और तमोगुण के प्रभावी होने पर प्रेयमार्ग यानि विषयभोगों की प्राप्ति तथा अज्ञानांधकार में पाप की प्रवृत्ति की दिशा में दुष्कर्मों की दिशा में संकल्पों का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार चित्त अनेकानेक संकल्प–विकल्पों के मलावरण से आवृत्त रहता है। किन्तु आत्मज्ञानी का चित्त पाषाण की भांति निश्चल, स्फटिक मणि की भांति निर्मल तथा

महाकाश की भांति शान्त तथा निर्लिप्त रहता है उसमें न तो संकल्प-विकल्पों की वायु का उत्पात होता है और न जागृतावस्था की चित्तवृत्तियाँ और न निद्रावृत्ति का प्रवेश होता। ऐसी चित्त की स्वरूपावस्था का मायाधीन मन तथा बुद्धि कल्पना भी नहीं कर सकती। चित्तवृत्तियाँ गुणात्मक होती हैं और आत्मज्ञानी गुणातीत अवस्था में रहता है, क्योंकि माया के तीनों गुण निष्क्रिय तथा पुरुषार्थशून्य होकर अपनी कारणरूपा प्रकृति में लय हो जाते हैं और आत्मज्ञानी अपने अद्वैतस्वरूप में चिदानन्दमग्न रहता है। इस कल्पनातीत अवस्था को प्राप्त करना देहधारियों के लिए अत्यन्त दुरूह तथा कठिन साधना है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं कि –

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति।।

अर्थात् अव्यक्त परमात्मस्वरूप में चित्त को केन्द्रित करना अस्वाभाविक तथा अत्यन्त कष्टकारी है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम तो यह कि चित्त किसी वृत्ति पर केन्द्रित होता है और अव्यक्त में कोई वृत्ति नहीं बनती। जब चिन्तन का विषय ही अनिर्वचनीय है तब चिन्तन किस आधार पर किया जाय। जीवात्मा बुद्धिबोधात्मिका होने से मिथ्या अहंकार के आश्रित चिन्तन करती है और अहंकार भ्रान्तिज्ञान का द्योतक है तब ऐसे चिन्तन से सत्यज्ञान कैसे सम्भव होगा। दूसरा मुख्य कारण है कि ज्ञानमार्ग में द्वैतसृष्टि को मिथ्या माना है अतः परमात्मा का साकार तथा सगुण स्वरूप भी मिथ्या हुआ। मिथ्या स्वरूप में समर्पण भक्ति हो नहीं सकती अतएव शरीरधारी होने के नाते अहंकार से मुक्ति तथा शारीरिक कष्टों से निर्लिप्तता योगसिद्धि के बिना सम्भव नहीं हो सकती और योगसिद्धि के लिए सिद्धपुरुष अथवा सगुणस्वरूप में परमात्मा की भक्ति तथा उससे भावनात्मक सम्बन्ध होना आवश्यक है तभी योगशिक्षा प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं, क्योंकि –

सः एवायं मया ते अद्य योगः प्रोक्तः सनातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं हि एतदुत्तमम्।।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या ते मयि तेषु चाप्यहम्।।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।।

अर्थात् यह जो अमर योगशिक्षा है वह मैं परमात्मा (सगुणरूप) तुम्हें (अर्जुन) को दे रहा हूँ, इसके पीछे एक महत्वपूर्ण रहस्य छिपा है और वह है कि तुम मेरे भक्त भी हो और तुमने मुझसे एक दृढ़ रिश्ता सखा के रूप में बना लिया है। भक्ति तथा भावनात्मक सम्बन्ध चित्त को अहंकारमुक्त करने के लिए परमावश्यक है, अन्यथा सिद्ध की कृपा के बिना बुद्धि से अहंकार को निकालना असम्भव सा है, क्योंकि बुद्धि में गुप्त पुरुष की बुद्धि के साथ तदाकारता रहने से जीवभाव तथा मायिक पराधीनता नष्ट नहीं होती। यद्यपि मायाधीश सगुण परमात्मा मायिक रहस्यों के ज्ञाता तथा नियन्ता हैं, सर्वसाक्षी तथा समस्त मायाधीन प्राणियों के अहैतुकी हितैषी हैं और उनका न किसी से वैरभाव और न किसी में आसक्तियुक्त प्रेम है तथापि जिनका चित्त अनन्या भक्ति से उनका चिन्तन करता है उनका चित्त परमात्मा के सर्वव्यापक चित्त से जुड़ा रहता है। निर्गुण स्वरूप के उपासकों के साथ ऐसा नहीं होता। इसलिए ज्ञानमार्ग के साधकों को हजारों जन्मों की कठिन साधना के बाद चिरकाल में अपने अन्तःकरण को मायिक मलावरण से मुक्त कर परमात्मा के समान चित्त की विशुद्धावस्था को प्राप्त करना होता है, तभी ज्ञानचक्षु की प्राप्ति होती है, क्योंकि उनके लिए एक ही नियम है कि –

यथोदकं शुद्धे शुद्धं आसिक्तं तादृक् एव भवति।
एवं मुनेः विजानतः आत्मा भवति गोतम।।
वीतरागभयक्रोधैः मुनिभिः वेदपारगैः।
निर्विकल्पो हि अयं दृष्टः प्रपंचोपशमः अद्वयः।।

अर्थात् जिस प्रकार शुद्ध जल – शुद्ध जल में मिलकर समान स्थिति में आ जाते हैं उसी प्रकार ज्ञानमार्ग के ब्रह्मज्ञानी मुनि की आत्मा परमात्मा में मिलकर एक हो जाती है। इसके लिए वेदशास्त्रों के ज्ञान तथा विज्ञान से विशुद्ध हुई आत्मा जब माया के रागद्वेष, भय तथा क्रोधादि सभी अनन्त संकल्पभावों के मलावरण से मुक्त होकर परमात्मा के समान सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित रहती है तब निर्विकल्प चित्त में संसार नष्ट हो जाता है और केवल अद्वैत आत्मतत्व ही प्रकाशित रहता है। इसी को योगसिद्धि कहा जाता है जोकि सगुणोपासकों को सिद्धकृपा से शीघ्र प्राप्त हो जाती है। अतः किसी भी मार्ग के उपासक को अन्य दो मार्गों में निहित साधना का भी आश्रय लेना चाहिए। कारण यह है कि आध्यात्म–सिद्धि के लिए तीन मुख्य बाधायें हैं। (1) जीवभाव का कारण अविद्याजनित अहंकार, (2) चित्त में अविद्याजनित संस्कारों का मलावरण, (3) परमात्मा की त्रिगुणात्मिका दैवात्मशक्ति से प्रकट हुई अविद्या माया।

इनमें अविद्यारूपी माया की बाधा केवल परमात्मकृपा अथवा सिद्धकृपा से ही नष्ट होती है और कृपा का अधिकारी वही है जिसमें भक्तिमार्ग की अनन्या भक्ति है। संस्कारों के मलावरण की बाधा साधनमार्ग की योगसिद्धि द्वारा अन्तःकरण की विशुद्धि से नष्ट होती है तथा अहंकाररूपा बाधा ज्ञानमार्ग के तत्वज्ञान से नष्ट होती है। इन तीनों बाधाओं के नष्ट होने पर

अध्यात्म सिद्धि का लक्ष्य प्राप्त होता है। वरीयता के आधार पर सर्वप्रथम कर्मयोग की साधना से चित्तशुद्धिरूपी बाधा का नाश करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना न भक्ति का उदय होगा और न ज्ञान का और न योगसिद्धि सम्भव है। इसके उपरान्त अनन्या भक्ति के द्वारा कृपापात्र बनना आवश्यक है, तदनन्तर निरोधसमाधि के विज्ञान से ज्ञानमार्ग के द्वारा ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। इन तीनों बाधाओं के नष्ट होने पर परमात्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं प्रकट हो जाता है और मायाधीश की कृपा से अविद्यामाया भी स्वयं निष्क्रिय तथा लुप्त हो जाती है। इसी स्थिति को अध्यात्म–सिद्धि कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में इसी वरीयता का उपदेश दिया है कि –

मय्येव मनः आधस्य मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।
अभ्यासे अपि असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।
अथ एतदपि अशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगं मदाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्तिमनन्तरम्।।

अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपनी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ना चाहिए। अध्यात्म–सिद्धि को लक्ष्य माना जाय तो उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन एक सीढ़ी के समान है जिसका प्रथम पुरुषार्थ का आधार सात्विक मनुष्यजीवन है, पुरुषार्थ का द्वितीय आधार कर्मयोग है, पुरुषार्थ का तृतीय आधार भक्तियोग है, पुरुषार्थ का चतुर्थ आधार अष्टांगयोग है और पुरुषार्थ का पंचम आधार विवेकख्याति है और षष्ठम विश्रामाधार सिद्धकृपा है। सिद्धकृपा में पुरुषार्थ नहीं अपितु आत्मनिवेदन एकमात्र हेतु है। भगवान श्रीकृष्ण ने पंचम आधाररूप विवेकख्याति के लिए प्रकृतिप्रदत्त मन को प्रकृति के उद्गम स्थान परमात्मा में लय करके बुद्धि को परमात्मज्योति में निरोध समाधि के द्वारा प्रवेश कराने का आदेश दिया है, क्योंकि आत्मप्रकाश से प्रकाशित निर्मल बुद्धि में विवेकज्ञान स्वतः प्रकट हो जायेगा। यदि ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाते हो तब इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए अष्टांगयोग की साधना करने का आदेश दिया। यदि ऐसा करने में भी असमर्थ पाते हो तो सर्वधर्म त्यागकर अनन्याभक्ति यानि लोक तथा धर्म की चिन्ता छोड़कर केवल परमात्मप्रेम में आत्मसमर्पण करने

का आदेश दिया। यदि ऐसा करने में भी अपने को असमर्थ पाते हो तथा अन्तःकरण की शुद्धि और उपरोक्त पुरुषार्थ की समर्थता प्राप्त करने के लिए कर्मयोग का आश्रय लेने का आदेश दिया। भगवान के आदेश के अनुसार योग्यता के अनुकूल क्रमागत साधना से परमात्मप्राप्ति सम्भव हो सकती है। वेदवाणी भी इसकी पुष्टि करती है कि –

सत्येन लभ्यः एषः आत्मा।
सम्यक्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः।
ततस्तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।।

अर्थात् यह आत्मतत्व उपरोक्त साधना से सत्य की खोज करके जाना जा सकता है, उसके लिए विवेकख्याति तथा ब्रह्मचर्यव्रत की आवश्यकता है। यह आत्मतत्व शरीर की बुद्धिरूपी गुफा में विशुद्ध ज्योतिस्वरूप में उसी प्रकार गुप्त है जैसे कि दूध में घी अथवा शुष्क काष्ठ में अग्नि गुप्त रहती है। इस परमात्मस्वरूप को उपरोक्त साधना करते हुए ही देखा जा सकता है यानि ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इस साधना का प्रथम सोपान "कर्मयोग" अथवा महर्षि पतंजलि का 'क्रियायोग' है।

साधनामार्ग (कर्मयोग)

परमात्मा ने स्वयं अपनी माया का विधान कर्माश्रित बताया है कि –

लोके अस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया अनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यासादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यः आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य आरभते अर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो हि अकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

अर्थात् जब सृष्टिरचयिता ब्रह्मा ने जीवसृष्टि की तो उसी के साथ यज्ञों का कर्मविधान भी बना दिया जिसके द्वारा जीवात्मायें अपनी मनोगत कामनाओं की पूर्ति कर सकते हैं जैसे कि कामधेनु गाय के द्वारा सर्वप्रकार की कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। माया की इस दिव्य प्रक्रिया में देवसृष्टि तथा मानवसृष्टि को संयुक्त कर विधाता ने समस्त लोकों की सृष्टि का विस्तार कर दिया। इस मायाजाल से मुक्ति का साधन भी इसी प्रक्रिया को कर्मयोग से संयुक्त करके दिया कि यदि कर्मफलरूपी यज्ञों का एकमात्र लक्ष्य चित्तशुद्धि तथा मायाधीश परमात्मा की प्रसन्नता यानि अनन्या भक्ति बना दिया जाय तो जन्म–मरण के कर्मबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। अतः यदि कर्मफल में कामनाओं की पूर्ति का लक्ष्य नहीं है तो उसे कर्मयोग की साधना कहा जाता है। माया के रूप में यह परमात्मा का संकल्प है कि जीवात्मा की शरीरयात्रा प्रारब्धकर्मों के फलों के अनुकूल ही चलेगी, अतः प्रत्येक जीव को स्वभाव से प्रेरित कर्मों को करते हुए कर्मयोग का पालन करना चाहिए तभी उसकी मायापाश से मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

कर्मयोग के पालन में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह है मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का व्यापार, क्योंकि शास्त्र का कथन है कि –

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्वशं नागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनः अनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैः विमोहयति एष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।

(शेष अगले अंक में)

योग-आसन

मत्स्येन्द्रासन

वामोरुमूलार्पित दक्षपादं, जानोर्बहिर्वेष्ठितवामपादम्।
प्रगृह्य परियर्तितांगं श्रीमत्स्येन्द्रनाथोदितमासनं स्यात्।।

विधि – पद्मासन की विधि से अपनी बाई जंघा हर दाहिने पैर को जमाये तदनन्तर उस बायें पैर को उठाकर अपने दाहिने पैर के घुटने के ऊपर से लेकर दाहिनी ओर जमा कर रख लें, उसके बाद अपने दाहिने हाथ को घुमाकर उस ही दाहिनी ओर जमे हुए बायें पैर के घुटने को बायीं ओर लाकर दृढ़ता से उसी पैर के पंजे को पकड़ कर वहीं दृढ़ता से हाथ को जमाये रखें और सीधा बैठें इसी का नाम मत्स्येन्द्रासन है। इसी विधि से पैरों को बदल कर बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रख कर व दाहिने पैर को बायें पैर के घुटने के पास से खड़ा पंजा लगाकर बायीं ओर जमा दें। उसके बाद अपने बायें हाथ को उस दाहिने जमे हुए पैर दाहिनी ओर से घुमा कर उस दाहिने ही पैर के पंजे को दृढ़ता से पकड़ कर हाथ वहीं जमाये रखें, इस प्रकार यह आसन दोनों ओर से बदल–बदल कर किया जा सकता है इस आसन को करते हुए अपनी दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए।

समय – पहली बार ही अभ्यास करने वाले को भ्रदासन की तरह उसे भी 10 या 20 सैकन्डों से ही आरम्भ करना चाहिए, बाद में पाँच–पाँच सैकन्ड बढ़ा कर अभ्यास को ऊँचा बढ़ाया जा सकता है।

लाभ – इस आसन की विधि इस प्रकार की है कि जिसमें मेरुदण्ड स्वाभाविक ही सीधा रहता है, मेरुदण्ड के सीधे रहने से सुषुम्ना की गति स्वतः ही हो जाती है। अतः यह आसन मन की एकाग्रता का दाता है। कुण्डलिनी प्रबोध करने वाला है। पीठ में होने वाले व उदर में होने वाले सभी वात विकारों का नाशक है, जठराग्नि का वर्धक है। आँतों को पूरा–पूरा बल देता है। शौच शुद्धि के लिए भी उत्तम है।

कुंडलिनी शक्ति जागृत करने के सरल उपाय

– डॉ. चाँद प्रकाश मेहरा, 557 मन्टोला स्ट्रीट, नई दिल्ली–55

कुंडलिनी शक्ति जागृत करने की विधि

कुंडलिनी शक्ति को जागृत करने का अभ्यास रात्रि में किया जाना चाहिए। साधना करने से पूर्व अपने आन्तरिक तथा बाह्य गुरुदेव का मानसिक ध्यान कर उन्हें नमस्कार कर फिर कुन्डलिनी शक्ति का ध्यान, स्तुति कर उसे प्रणाम करें।

कुंडलिनी का ध्यान

ध्यायते कुंडलिनी सूक्ष्मां मूलाधारं निवासिनीम्।
तामिष्ट देवता रूपां सार्द्ध शिवलयन्विताम्।
कोटि सौदामिनी भाषां स्वयंभूलिंग वेष्टिताम्।।

कुंडलिनीस्तव

ॐ नमस्ते देव देवेशी योगीश प्राणवल्लभे।
सिद्ध दे वर दे प्रातः स्वयंभू लिंगवेष्टिते।।
प्रसुप्त भुजगाकारे सर्वदा कारण – प्रिये।
काय कलाऽन्विते देवि! ममाभीष्टं कुरुष्वच।।
प्रसारे घोर संसारे भवरोगान् महेश्वरी।
सर्वदा रक्ष माँ देवि! जन्म संसार रूपकात्।।
इति कुंडलिनी स्तोत्र ध्यात्वा यः प्रपठेत्सुधि।
स मुक्तः पापेभ्यो जन्म संसार सागरात्।।

निम्नलिखित मंत्र से कुंडलिनी देवीको प्रणाम कर :–

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानञ्याखिलेषु या।
भूतेषु सतत तस्य व्याप्ति देव्यै नमो नमः।।

इसके बाद निम्नलिखित साधन का सतत् अभ्यास करें –

एकान्त में सिद्धासन पर बैठ दोनों नथुनों से प्राणवायु आकर्षण करके, बलपूर्वक अपान वायु में मिलाने का प्रयत्न करें और जब तक सुषुम्णा मुख में वायु पहुँच कर प्रकाश न पावे तब तक अश्विनी मुद्रा से धीरे–धीरे गुह्य प्रदेश को सिकोड़ें और फैलावें। इसी तरह साँस रोक कर कुंभक योग से वायु का निरोध करने से कुंलिनी शक्ति जाग कर सुषुम्णा पथ से ऊपर की तरफ चढ़ती है। जब कुंडलिनी शक्ति चैतन्य होकर सुषुम्णा में प्रवेश करती है तो उस समय पीठ की

रीढ़ के बीच चींटी सी रेंगने जैसी सरसराहट होने लगती है।

कुंडलिनी को कूर्च बीज 'हूँ' का जाप करते हुए जगाना चाहिए, 'हंस का जाप करते हुए उठाना चाहिए और (सोऽहं) का जाप करते हुए नीचे उतारना चाहिए। मूलाधार में काम वायु अथवा कदर्प वायु रूपी अपान वायु को ऊपर उठाते समय बाईं दिशा की ओर प्रेरित किया जाता है।

याद रखें असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। ये दोनों शक्तियाँ कहाँ और किस प्रकार मिलाई जाती हैं यही समझने की बात है। अपान शक्ति का स्थान उपस्थ है, यह मूलाधार के समीप रहती है और इसकी गति नीचे की ओर होती है। प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है, दोनों का योग करके इनको सुषुम्णा विवर में प्रविष्ट कराना होता है। सुषुम्णा का प्रवेश द्वार कुंडलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच स्थित है अर्थात् प्राण और अपान दोनों को इसी स्थान पर खींच कर मिलाना होता है। जिससे दोनों मिलकर सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं, ऐसा होने पर योगी अपने किञ्चित प्रयास अथवा संकल्प मात्र से प्राण का प्रवाह जहाँ चाहे वहाँ सुगमता से होने लगता है।

(क) प्राण वायु की अपान में आहुति

देने के लिए उसको नीचे उतार कर मूलाधार में ले जा कर अपान में मिलाना होगा। यह क्रिया पूरक और अंतरकुंभक करने से भी सिद्ध होती है, साँस को फेफड़ों (Lungs) में धीरे–धीरे परन्तु दबाव के साथ खींचकर पूरक करना पड़ता है फिर कण्ठ का संकोचन करके जालंधर बंध द्वारा वायु को जोर से नीचे दबाया जाता है। इस क्रिया से कुछ अभ्यास के पश्चात् प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा, पिंगला नाड़ियों में खिंच कर नीचे की ओर उतरने लगती है और धीरे–धीरे कन्द के पास मूलाधार चक्र में बिना केवल रेचक पूरक करते हुए (जैसा साधारणतया स्वयं ही होता रहता है) मूलाधार, आज्ञा चक्र, ब्रह्मरन्ध्र आदि किसी भी चक्र पर अथवा नासिकाग्र भाग पर या नाभिपर ध्यान जमा कर ऐसी भावना करते हुए कि 'ओं' (अथवा सों') से उसी विशेष स्थान पर श्वास आ रहा है और 'अम्' (अथवा 'अहम्') से छूट रहा है, 'ॐ' अथवा 'सोऽहं' का मानसिक जाप करे। इस अभ्यास में जरूरत इस बात की है कि अपने नियत स्थान अथवा चक्र पर श्वास–प्रश्वास की गति पर इस भावना से ध्यान देवें।

यदि उपर्युक्त रीति से जाप करने में कठिनाई प्रतीत हो तो विशेष स्थान पर केवल मानसिक 'ओम्' (अथवा सोऽहं) का जाप करें अथवा ऐसी भावना करें कि वहां 'ओउम्' अथवा 'सोऽम्' का जाप हो रहा है या ओम् (अथवा सोऽहं) शब्द को सुन रहे हैं, मुख्य बात यह है कि उस विशेष स्थान पर मन ठहरा रहे। जिस विशेष स्थान अथवा चक्र पर आपका मन स्वतः रुक जाये वहीं उपरोक्त विधि से जप व ध्यान करें।

इसका निरन्तर अभ्यास करने से श्वास–प्रश्वास की गति का स्वयं निरोध हो जाता है और कालान्तर में धीरे–धीरे कुंडलिनी शक्ति स्वयं जागृत हो सुषुम्णा ववर में चढ़ जाती है पहले

खुले नेत्रों से साधन करो जब थक जाओ तब नेत्र बन्द कर अन्तरध्यान से साधन करो।

मूलबन्धादि साधने में जिन साधकों को विशेष कठिनाइयाँ प्रतीत हों वे आज्ञा चक्र अथवा सहस्रार चक्र में ही विधिपूर्वक ध्यान करके अपनी कुंडलिनी शक्ति को जागृत कर सकते हैं। बैठकर करने की अपेक्षा शवासन में (आँखें खुली रखे हुए अथवा नेत्र बन्द करके जैसा चाहो)। यह साधना करने से शीघ्र ही सिद्धि मिलती है। जो काम आप अपने बल पर 4–5 साल में करोगे वह शवासन में करने से केवल 30 दिन में ही हो जाता है। ऐसा करने से अति शीघ्र ध्यान लग कर कुंडलिनी शक्ति जागृत हो जाती है।

याद रखें जबरदस्ती कुंभक करने का प्रयास न करें। कुंभक का समय धीरे–धीरे अभ्यास से ही बढ़ाना चाहिए। नवम्बर से मार्च तक का समय कुंडलिनी साधना के लिए सर्वोत्तम है। बस्ति अथवा एनीमा द्वारा उदर का संशोधन करते रहना चाहिए।

कुंडलिनी जागृत करना और उसको सही रास्ते में षटचक्रों का भेद करते हुए सहस्त्रा में परमशिव से मिलाना तथा वापस लाना इतना आसान नहीं है जितना कि उपरोक्त लेख से पाठकों को बोध होगा। यह एकत्रित होती है वहाँ पर साधक ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का संकोचन (मूलबंध) द्वारा अपान शक्ति को रोका ही हुआ होता है। इस प्रकार वहां दोनों का योग किया जाता है। यही प्राण की अपान में आहुति हुई।

(ख) अपान की प्राण में आहुति

फिर रेचक द्वारा धीरे–धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबंध तथा पेट को पीठ की ओर खींच कर (उड्डियान बंध से) प्राण से मिलाया जाता है, इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान की प्राण में आहुति देना है, उक्त दोनों का योग करके, प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करने से असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(ग) प्राण अपान की गति का निरोध –

तदन्तर बाह्य कुंभक करके श्वास प्रश्वास की गति रोक दी जाती है। जिससे प्राण और अपान दोनों अपना बाह्य कार्य त्याग कर अन्तरमुख होने लगते हैं, यही प्राण अपान की गति का निरोध करना है।

(घ) प्राणों की प्राणों में आहुति (केवल कुंभक) –

केवल कुंभक के सिद्ध होने पर श्वास प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास गति का निरोध होने से प्राण शक्ति का निरोध होता है। पाँचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुक कर प्राण का समिष्ट उत्थान होता है और समाधि लगती है। ऐसे साधक मिताहार करके दीर्घकाल तक समाधि का आनन्द लेते हैं, यही प्राणों की प्राणों में आहुति देना है।

इसका (ग) से इतना भेद है कि केवल कुंभक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगता है, इन चारों ही रीतियों से प्राण सुषुम्णा में चढ़ता है।

शक्ति के जागकर क्रियावती होने पर उपरोक्त चारों प्रकार के प्राणायाम स्वत: ही बिना यत्न के अर्थात श्वास प्रश्वास की गति का आधार लिये बिना सिद्ध होने लगते हैं। यदि 12 घण्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घण्टे की धारणा, पाँच मिनट का ध्यान और 25 सैकण्ड की समाधि होती है, ऐसा अन्दाजा है।

द्वितीय विधि –

सिद्धासन अथवा पद्मासन में बैठकर श्वास प्रश्वास की गति को रोकें रास्ता बहुत कठिन है और गुरुगम्य है। इसकी सिद्धि के लिए साधक को अपने संस्कारानुसार 3 वर्ष से 12 वर्ष तक का समय लग जाता है और कोई–कोई साधक तो साधना करते–करते दूसरे लोक को प्रस्थान कर जाते हैं लेकिन उनकी यह साधना निष्फल नहीं जाती। अगले जन्म मे जब वह साधना शुरू करते हैं तो पिछले संस्कार–वश उनको उतना समय कम लगता है। यूँ तो सद्गुरु की कृपा हो जाय तो वह क्षण मात्र में शक्तिपात द्वारा आपकी कुंडलिनी शक्ति जागृत कर सकते हैं और आपको सब क्रियायें बिना प्रयास के अपने आप होने लगेंगी तथा आपका ध्यान लग जायेगा, यह सब आपके संस्कारों पर निर्भर करता है। सद्गुरु से कुछ नहीं छिपा, वह आपकी योग्यता के अनुसार ही साधन बतावेंगे।

नादानुसंधा से, मंत्रयोग से तथा त्राटक के द्वारा भी कुंडलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। श्री भगवती यंत्रमयी, मंत्रमयी और प्रकाशमयी हैं, मन्त्रमयी भगवती का ध्यान होता रहे, इससे वह प्रसन्न होकर साधक से सब क्रियायें स्वयं करा लेती हैं।

।। श्री गुरुदेव समर्पणमस्तु ।।

● ● ●

"हम हिन्दुस्तान को सुखी और समृद्धिशाली बनाने की बात रोज करते हैं। पर जब तक प्रत्येक व्यक्ति "पहला सुख निरोगी काया" प्राप्त नहीं करता, स्वास्थ्य के सिद्धान्तों का अध्ययन करके उनका व्यवहार नहीं किया जाता, तब तक व्यक्ति या समाज की किसी उन्नति की ओर प्रगति नहीं हो सकती।"

अथर्व वेद

ब्रह्मचर्येण तप सा देवा मृत्युमुपाघ्नत्।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्।।

ब्रह्मचर्य का पालन और तपस्या करके देव पुरुषों ने मृत्यु को मार भगाया है। ब्रह्मचर्य का पालन कर यह जीवात्मा इन्द्रियों से दुर्लभ सुख को प्राप्त करता है।

विमर्श - जीवात्मा अपने कर्मों का शुभाशुभ फल भोगने के लिए, नाना प्रकार की ***योनियों में बार-बार जन्म लेता है और मरता है।*** मनुष्य योनि में वह फल भोगने के साथ ही नया कर्म भी करता है जबकि इस योनि के अलावा ***अन्य सभी योनियों में जीवात्मा सिर्फ पूर्व कर्मों का फल भोगता है नया कर्म नहीं करता।*** ऐसी दुर्लभ और अत्यन्त उपयोगी मनुष्य योनि का समय, नाना प्रकार के विषयभोग और कुकर्मों को करने में उलझा रह कर, बेकार व्यतीत कर देता है और ***इन कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में भटकता रहता है।*** इस मनुष्य जीवन का सदुपयोग करने, उचित उपभोग करने और अच्छे कर्म पर आत्मोन्नति करने के लिए हमें ब्रह्मचर्य का पालन और व्यायाम का नियमित अभ्यास अवश्य करना चाहिए ताकि हम इस जीवन में लम्बे समय तक स्वस्थ और बलवान बने रह सकें और शुभ कर्म करते रह सकें।

SIDDHYOG Postal Regd. No: Ag. 19/2009-11 January 2014

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री _____

_____

_____

□□□□□□

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

(गीता 2/16)

इस असत्-नश्वर-मायिक संसार की नित्यता नहीं है और सत्-सत्य स्वरूप ब्रह्म का विनाश नहीं है। ऐसा तत्वदर्शी ज्ञानीजनों का सिद्धान्त है।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री स्वामी ब्रह्ममोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक श्री. दाससलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय प्लॉस्टिक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सयाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14588.
सम्पादक : आचार्य म. (डॉ.) दाससलाल शर्मा